अर्हत

•

[श्रमण-सूक्त काव्य]

बशीर अहमद 'मयूख'



मयूख प्रकाशन

अर्हत्
(कविता)
बशीर अहमद 'मयूख'

प्रकाशक : अन्जुम मयूख
मयूख प्रकाशन
पोस्ट ग्रा० सालपुरा
जिला कोटा (राज०)

मुद्रक :
श्री शंकर आर्ट प्रिण्टर्स
जयपुर

मूल्य :
अजिल्द दस रुपया पचास पैसा
सजिल्द बारह रुपया पचास पैसा
विशिष्ट संस्करण पच्चीस रुपया

प्रथम संस्करण
मई १९७५

विशिष्ट संस्करण

समर्पण

संस्कृति के सम्यक्-चेता श्री हरिदेव जोशी को

[प्रान्तीय अध्यक्ष, श्री महावीर पच्चीस सौवां 'निर्वाण-समारोह-समिति

एवम्

मुख्य-मन्त्री राजस्थान]

कवि-नमन

नमस्कार सिद्धों को मेरा युग-पुरुषों, अरिहंतों को,
ज्ञान-प्रदाता उपाध्याय को, आचार्यों को, संतों को,
जिनके साधु-प्रयास लोक के सुख-हित-चिन्तन के हित अर्पित
अखिल विश्व के साधु-जनों को मेरे नमन-प्रणाम समर्पित ।

'मयूख'

अनुक्रम

□

कवि-कथन

ऋग्वैदिक काव्य 'स्वर्णरेख' के पश्चात श्रमण-सूक्त काव्य 'अर्हत्' राष्ट्र की सेवा में रख रहा हूँ। प्रस्तुत विषय में अधिकार पूर्वक कहने का मनन-अध्ययन बिल्कुल नहीं है; केवल अपनी लेखन-दृष्टि निवेदन कर रहा हूँ—

भारतीय दर्शन की एक बड़ी विशेषता रही है; चिन्तन के आधार पर विविध मत एक-दूसरे से अलग लगते हुए भी, उनमें जाने कैसी एक नैसर्गिक सम-गंध आती है, द्वैत-अद्वैतवादी, नास्तिक-आस्तिक सभी किसी एक अप्रत्यक्ष धरातल पर खड़े नजर आते हैं.—(जाकी रही भावना जैसी-हरि-मूरत देखी तिन तैसी) भारतीय दर्शन की यही सम-गंध हमारी सम्यक् संस्कृति का स्वरूप-निर्धारण कर रही है.

और यहीं पर हमारी दृष्टि जाती है भारतीय दर्शन के एक चमकते नक्षत्र, अनेकांत के उद्घोषक तीर्थंकर महावीर पर; जो निस्संदेह हमारी संस्कृति के अत्यन्त उदार निर्धारक रहे, उनकी बौद्धिक उदारता मतवादी कट्टरता से सर्वथा मुक्त रही ❀–[1] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र (आचरण) का यह उदार उद्घोषक समाज को कर्म-कांडों में उलझने के स्थान पर कर्मशील बनने का निर्देश देता रहा. गति की स्थिति को धर्म और स्थिरता को अधर्म घोषित करता रहा, अशरीरी अमर आत्मा को कर्मानुसार बंधन में पड़ने वाली बताकर समाज को सत्कर्म की प्रेरणा देता रहा. जीव-अजीव दो बुनियादी पदार्थों के घात-प्रतिघात से सृष्टि-संचालन का विचारणीय वैज्ञानिक सिद्धान्त प्रतिपादित करता रहा। एक विशेष अपूर्व बात यह हुई कि महावीर ने समाज को अपना अनुयायी-अनुगामी न बनाकर सहगामी बनने की सलाह दी. तीर्थंकर महावीर हमारे दर्शन, चिन्तन और संस्कृति की उज्ज्वल धरोहर हैं. सम्प्रदायवाद, युद्ध और पूँजीवाद से पीड़ित विश्व आज श्रमण-दर्शन के अनेकांत, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तों में अपनी समस्याओं का समाधान खोज सकता है.

❀ १. सव्वे विहोंति सुद्धा······· अर्हत् पृ० २

संस्कृति के सम्बन्ध में मेरी मान्यता है कि यह किसी सम्प्रदाय की न होकर राष्ट्र की–कौम की होती है और राष्ट्र केवल देश की भूगोल-रेखा तक सीमित न रहकर संस्कृति की विस्तार-सीमाएं घेरता है. एक भूखंड के निवासियों को हजारों साल तक युगपुरुष, समाज और राजनेता, सन्त और साहित्यकार आदि अपने चिन्तन और कर्म से प्रभावित करते हैं, तब कहीं जाकर इतिहास के गर्भ से उस राष्ट्र की संस्कृति का जन्म होता है.

हमारी भारतीय कौम की संस्कृति को जिन युगपुरुषों ने हजारों साल में ढाला, वे सब हमारे पूर्वज हैं, हमारे साझे हैं. हमारे इतिहास-रथ की वल्गा कभी विश्वामित्र और अगस्त्य, युगपुरुष राम और गीताकार कृष्ण ने थामी है तो कभी इस रथ पर आकर बैठ गये हैं राजपुरुष अशोक और अकबर. इस इतिहास-पथ पर खींच गये हैं सुनहरी लकीर कभी बुद्ध और महावीर, नानक और कबीर, रसखान और जायसी, रहीम और तुलसी, गालिब और रवीन्द्र, अरविन्द और विवेकानन्द, तुकाराम और चिश्ती, एकनाथ और ज्ञानेश्वर, एवम् दक्षिण भारत के अनेक सन्तों-साहित्यकारों सहित महामानव गांधी. इन सारे युगपुरुषों, सामाजिकों, राजनेताओं, संतों और साहित्यकारों का इतिहास हमारा इतिहास है. ये सब मिलकर हम हैं; हम अर्थात् भारत राष्ट्र. अपने गहन चिन्तन एवम् आध्यात्मिक दर्शन से प्रभावित करने वाले तीर्थंकर महावीर हमारी भारतीय कौम की संस्कृति के अत्यन्त उदार निर्धारक युगपुरुष हैं.

अक्सर लोग सम्प्रदायों को धर्म के नाम से पुकार देते हैं. मेरी धारणा है कि धर्म बहुवचन नहीं एकवचन संज्ञा है. विभिन्न नहीं, अभिन्न होता है. धर्म-ग्रन्थों के नाम पर मनुष्य-जाति के पास जो भी उपलब्ध ज्ञान है वह इन्सान की साझी सम्पत्ति है, विश्वजनीन है, मनुष्य के कल्याण के निमित्त है. दुनिया भर में फैले विविध सम्प्रदायों के धर्म-ग्रन्थों में चिन्तन की दृष्टि से चाहे वैभिन्न्य रहा किन्तु मनुष्य की कल्याण-कामना से घोषित निर्देश समान रहे, सत्य शाश्वत रहा. इन प्रकाश-स्तम्भों की रोशनी में अपना भविष्य खोजना मनुष्य-जाति के लिये कल्याणकारी होगा. इन ग्रन्थों को यदि तत्कालीन समाज के नियमन की आचार-संहिता भी माना जाय, तो भी इनमें बहुत-कुछ

ऐसा है जो आज के विकट समस्याओं में घिरे विश्व-समाज का नियमन करने में सक्षम है. मनुष्य-जाति को अपनी नियति राजनीति के बजाय दर्शन और अध्यात्म में खोजनी होगी. राजनीति समस्याएं देती है-समाधान नहीं.

वैसे यह धर्म नाम का हाथी बड़ा विशालकाय रहा. धरती के ओर-छोर घूमा; कभी शालीनता से तो कभी उद्दंड होकर. जब यह शालीन रहा तो धरती पर रामराज्य, धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुए. उद्दंड होने पर दाशराज्ञ, महाभारत, क्रूसेड और जिहाद—अक्सर यह तब उद्दंड हुआ जब मनुष्य-जाति ने इसे राजनीति की मदिरा पिलाई. इसके अतिरिक्त मिथ्या-दृष्टि धर्म-मीमांसकों द्वारा इस हाथी के पूरे शरीर को समग्रता से पहिचानने एवम् अभिव्यक्त करने में गलती होने पर भी यह हाथी उद्दंड होता रहा. [1]* जिन-दर्शन का अनेकांत, धर्म के इस गज-शरीर को समग्रता से देखने, ग्रहण करने की दिव्य-दृष्टि देता है. [2]*

श्रमण-दर्शन का अहिंसा का चिन्तन केवल जीव-हिंसा की वर्जना तक सीमित नहीं रहता, जहां तक मैं समझता हूं—यह बहुसूत्री अहिंसा का आर्य-चिन्तन, कुशासन, दास-प्रथा, सामन्तवाद एवम् युद्ध के विरुद्ध अपने प्रबल स्वर देकर, लोकतन्त्री, समाजवादी और युद्ध-भय-विहीन, एक विश्व का सपना मुखर करता है [3]* जियो और जीने दो का उद्‌घोष कर 'दशवैकालिक' विश्व भाईचारे की भावना प्रकट करता है. [4]* तो 'बृहत्कल्प भाष्य' सच्चे समाजवाद का स्वस्थ व्याख्याकार रहा है. [5]*

जिन-दर्शन के अपरिग्रह की बात लें, तो हम देखते हैं कि आदि-मानव की कबीलों की लड़ाई से लेकर आज के विश्व-युद्धों तक हिंसा (युद्ध) के पीछे परिग्रह-वृत्ति (पूंजीवाद) रही है, चाहे विजेता द्वारा दास और पशु-संग्रह का मोह हो अथवा स्वर्ण-धन का आज भी हिंसक

---

[1]* जंमरणेगधम्मरणो वत्थुणो .... अर्हत् पृ० .... ४
[2]* उदधाविव सर्वसिन्धवः .... अर्हत् पृ० .... २
[3]* वयं पुण एवमाइक्खामो .... अर्हत् पृ० .... १६
[4]* वयं च वित्ति लब्भामो .... अर्हत् पृ० .... १०
[5]* जं इच्छसि अप्पणतो .... अर्हत् पृ० .... १२

युद्धास्त्रों का निर्माण करने वाले पूंजीवादी देशों के कारखाने और उनके धनकुबेर स्वामी विश्व-राजनीति का अपने पक्ष में अप्रत्यक्ष कुटिल संचालन कर विश्व-शांति में निरन्तर बाधक बन रहे हैं. युद्ध और पूंजीवाद, हिंसा और परिग्रह-वृत्ति एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं. 'आरम्भपूर्वकः परिग्रहः'[1*] कहकर जिन-दर्शन ने इसी अर्थशास्त्रीय-सत्य का उद्घाटन किया है. साथ ही मनुष्य-जाति को अपना सामाजिक नियमन, व्यवस्था बदलने की चेतावनी भी दी है.

उत्कृष्ट चिन्तन और निकृष्ट आचरण, यह मनुष्य का ऐतिहासिक संत्रास रहा, इतिहास-पुरुष महावीर इस तथ्य से अवगत और सजग थे, इसीलिये उन्होंने बार-बार सिद्धान्तों को कर्म में, ज्ञान को आचरण में ढालने की बात ज़ोर देकर कही.

यदि मनुष्य-जाति लोकतन्त्री, समाजवादी, युद्ध-भय-विहीन एक विश्व का निर्माण चाहती है तो उसका सिद्धि सूत्र जिन-दर्शन के अनेकांत, अहिंसा और अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों में खोजा जा सकता है. ऐसे कल्याणकारी सिद्धान्त और उन्हें आचरण में ढालने का निर्देश हर देश और हर काल में तीर्थंकर, पैगम्बर, युगपुरुष देते रहे हैं; चाहे वे कबीर के स्वर में बोले हों या क्राइस्ट के; वेदान्त का उद्घोष हो या कुरान का; पायथागारस ने कहा हो अथवा लाओत्से या जरथुस्त ने.

द्रष्टा सुकरात रहा हो या विश्वामित्र; सत्य सबसे उद्भूत हुआ है.
अहिंसा महावीर की हो या गांधी की !
अपरिग्रह महावीर का हो या मार्क्स का !
अनेकांत महावीर का हो या आइन्सटीन का

सत्य सबसे उद्भूत हुआ है, अविभाज्य है सत्य; शाश्वत है, शिव है, सुन्दर है; सत्य का इन सब द्रष्टाओं के बीच बंटवारा नहीं किया जा सकता. इस सत्य के, इस धर्म के गज-शरीर को समग्रता से देखने की अनेकांत दृष्टि ही सत्य-दृष्टि है, धर्म-दृष्टि है, संजय-दृष्टि है. इस सत्य को चाहे राजनेता न देखें पर धरती के ओर-छोर फैले क्रांतद्रष्टा कवि, युग के संजय, कतार-दर-कतार खड़े, व्यवस्था के सिंहासनों पर

1* 'अर्हत्' .... पृ० .... १४

आसीन अंधे धृतराष्ट्रों को अपनी दिव्य-दृष्टि से उपर्युक्त सत्य का साक्षात्कार कराने का प्रयास करते आ रहे हैं. इसी क़तार में खड़ा एक अंकिचन संजय मैं भी.

ऋग्वेद के पश्चात् जैन-आगम छूने पर कुछ मित्रों की विचित्र प्रतिक्रिया मुझ तक पहुंची. कुछ पाठकों को भी शायद कहीं कुछ अटपटा सा लगे; इस विषय में अपनी भावना एवम् चिन्तन-दृष्टि प्रस्तुत करने हेतु निम्न प्रासंगिक घटना का विवरण निवेदन करना पड़ रहा है—

गत १६ फरवरी को इलाहाबाद के एक सांस्कृतिक मंच पर काव्यपाठ के निमित्त आमन्त्रित था। चालीस मिनिट का कार्यक्रम प्रस्तुत करने की आज्ञा पाकर मैंने श्रोता-समाज को तीस मिनिट वैदिक एवं दस मिनिट श्रमण-सूक्त-काव्य प्रस्तुत करने की घोषणा की। अध्यक्ष का आदेश हुआ कि मैं केवल वैदिक काव्य प्रस्तुत करूं, महावीर-वाणी नहीं।

मेरे सम्मुख विकट स्थिति, अध्यक्षीय आदेश अनुल्लंघनीय होता है, एक ओर मंच की यह आचारसंहिता, इधर मैं किसी संस्था का प्रचारक नहीं, संस्कृति की सम-गंध का खोजी विद्यार्थी मात्र। जहां से मिलती है, मेरा जिज्ञासु मन वहां पहुंचता है। अपनी उपलब्धि राष्ट्र के चरणों में समर्पित करने की भावना से मंच पर उपस्थित होता हूं। विचित्र स्थिति। मैंने श्रोताजन के सम्मुख उक्त संकट स्पष्ट करते हुए विकल्प स्वरूप कार्यक्रम प्रस्तुत न करने के लिये क्षमा मांग कर अपना स्थान ग्रहण किया। श्रोताओं में बैठे संस्था के कम से कम एक अधिकृत प्रवक्ता महोदय ने भी अध्यक्षीय आदेश की दुहाई देकर कार्यक्रम प्रस्तुत न करने की मेरी घोषणा का स्वागत-अनुमोदन किया।

सवेरे संगम पर स्नान करने गया था, किया था। गंगा की पाप धोने की क्षमता में मेरा विश्वास नहीं। मनुष्य-जाति के ढेर सारे पापों को एक अकेली नदी कैसे धो सकती है? पर संगम पर स्नान करते हुए गंगा; मुझे नदी बिल्कुल नहीं लगी थी। यमुना भी नदी नहीं थी वहां पर, नदी नाम की संज्ञा ही नहीं थी। वहां तो संगम था।

मुझे लगी थी वहां हवाओं में, दिशाओं में, सारे वातावरण में व्याप्त एक संस्कृति-गन्ध, जो भारतीय दर्शन के उस पक्ष से आती है जहां चिन्तन के धरातल पर विविध मत, एक-दूसरे के विरोधी-से लगते हुए भी, जाने कैसी एक नैसर्गिक सम-गंध देते हैं। और यही सम-गंध हमारी भारतीय संस्कृति का स्वरूप-निर्धारण करती आ रही है। मैंने उस दिन संगम पर अपनी संस्कृति की इसी सम-गंध में स्नान किया था, गंगा में नहीं।

उस दिन मुझे यह भी लगा था कि गंगा में यदि हमारे पाप-प्रक्षालन की शक्ति है तो यह उसे संगम पर ही मिलेगी, इससे पूर्व नहीं। जहां इससे यमुना मिलती है और सरस्वती। उस विलुप्त की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती, उसकी खोज जरूरी है। उस अदृश्य को देखना पड़ेगा। मैंने देखा है उसे। आप भी देखना चाहें तो उसे भारत देश की भौगोलिक सीमाओं में मत ढूंढ़िये। वह प्रवहमान है भारतीय संस्कृति के संवाहक दक्षिण-पूर्व एशिया के बीस-बाईस देशों के भारत के सांस्कृतिक राष्ट्र की सीमाओं में, जिन्हें अगले सौ-दो सौ सालों में मिलकर "भारत महासंघ" बनना ही है। हजारों साल के बीते अतीत से जन्मे हम कुछ सौ साल आगे के भविष्य में क्यों न झांकें ?

संगम की यह विलुप्त सरस्वती अभी पिछले दिनों मुझे विश्व हिन्दी सम्मेलन; नागपुर में भी दिखी थी। आपमें से बहुतों ने इसे देखा होगा। उन सबको मेरा आह्वान है—भारत के सांस्कृतिक राष्ट्र की इस विलुप्त सरस्वती को आमन्त्रित करें—प्रत्यक्ष करें। गंगा-यमुना के संगम पर वह आये, तो गंगा को हमारे पाप धोने की शक्ति मिले।

इसी विलुप्त सरस्वती की चिट्ठी लेकर मैं घूम रहा हूं, वह हमारे भौगोलिक राष्ट्र का समन्वय-गंधी मन कब मिलेगा ?

बसन्त-पंचमी के उस माघ मेले में भूले-भटके शिविर से गुमशुदा की तलाश-घोषणाएं हो रही थीं। ऐसे शिविर भी थे जिनके प्रवक्ता धर्म और भगवान् का पता बताने की घोषणाएं करते हैं। मेरा मन चाहा था, और मैंने अपने साथी से कहा भी, कि भूले-भटके शिविर से घोषणा करूं कि धर्म और भगवान् कहीं खो गया है। उसे

ढूंढा जाय। उसकी हुलिया की प्रतिमा गंगा के संगम पर लगी है। इलाहाबाद के मंच से फिर यही घोषणा करने को मेरा मन चाहा।

प्रस्तुत काव्य शब्दानुवाद नहीं है, सूक्तों का भाव अपनी बुद्धि-क्षमतानुसार समझकर काव्य-रूप में दिया है, अतः मत-वैभिन्न्य होने पर विज्ञ जन मेरे अज्ञान-अल्पज्ञता को क्षमा करें.

भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली से प्रकाशित ऋग्वैदिक काव्य 'स्वर्णरेख' की भाँति एकाग्रता से जीकर 'अर्हत्' को नहीं लिख पाया. बड़ी तीव्रता से अनुभव कर रहा हूँ कि प्रस्तुत काव्य में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पाई. धर्मपत्नी का कैंसर रोग एवम् तज्जन्य मानसिक-आर्थिक चिन्ताएँ मन पर छाई रहीं.

इस विकट स्थिति में भी इसे लिख पाया इसका निर्विवाद श्रेय मेरे प्रान्त के साहित्यिक एवम् सांस्कृतिक-सुरुचि-सम्पन्न मुख्य मन्त्री श्री हरिदेव जोशी को है, जिनका अजस्र आशीर्वाद मेरे साथ रहा.

साहू श्री शांतिप्रसाद जैन, श्रीमती रमा जैन सहित मेरे पूर्व-प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ-परिवार का सक्रिय सहयोग, उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी, अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी जी, आचार्य श्री हस्तीमलजी एवम् मुनिवर श्री सुशीलकुमारजी, मुनि श्री नथमलजी के स्नेह-सिक्त आशीर्वाद से मेरा मनोबल बढ़ा. इस सन्दर्भ में माननीय चन्दनमलजी वैद्य (वित्त मंत्री राज०) श्री देवेन्द्रराज मेहता (सचिव राज० प्रान्तीय श्री महावीर निर्वाण समारोह-समिति एवं सचिव मुख्य मंत्री) श्री चन्द्रराज सिंघवी (सचिव सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर) श्री माणकराज सुराणा एशियाटिक्स, जयपुर, श्री उमरावमल चोरड़िया जयपुर, श्री प्रवीणचन्द्र छाबड़ा एवम् श्री नाथूलाल जैन (सदस्य लोकसेवा आयोग राज०) के जो स्नेह-सहयोग मिले, उसके लिये अन्तर्मन से आभारी हूँ.

'अर्हत्' के मुद्रक श्री राधेश्याम शर्मा ने जिस आत्मीयता से प्रकाशन-व्यवस्था में योग दिया, वह भी मेरे निकट स्मरणीय है.

एतदर्थ उपर्युक्त सभी को श्रद्धा-प्रणाम सहित श्रमण-सूक्त काव्य 'अर्हत्' राष्ट्र की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ.

एक निजी किन्तु प्रासंगिक बात भी निवेदन करना है—वेद-मंत्रों को काव्य-रूप देने के पश्चात् मुझ 'काफिर' की हत्या कर दिये जाने का पुण्य कमाने का लोभ एक विशेष मनोवृत्ति को रहा है. पिछले घातक आक्रमण से जीवित बच गया, फिर नई योजनाएँ बन रही हैं। इस बार योजनाकार को राजस्थान के एक वरिष्ठ सत्तारूढ़ राजनेता का वरद-हस्त भी प्राप्त है (उनके अनजाने में नहीं). मैं तो परम सत्ता को समर्पित हूँ, जैसी उसकी इच्छा हो. एक धृष्ट घोषणा कर दूँ कि जो भी अशिव, असत्य, असुन्दर है उसके सम्मुख समर्पण नहीं करूँगा, तोड़ भले ही दिया जाऊँ. बहुमुखी विद्रोही हूँ, सम्प्रदाय की दृष्टि में काफिर, सत्ता की दृष्टि में विरोधी, समाज की दृष्टि में असामाजिक; पर मैं अकेला नहीं, यह विष वे सब लोग पी रहे हैं जो सम्प्रदाय, सत्ता और समाज की वर्त्तमान व्यवस्थाओं से असहमत हैं. मेरे हिस्से में कुछ अधिक विष आ रहा है. अपनी विष-पान-क्षमता से आश्वस्त हूँ—पियूँगा.

अन्त में एक विनम्र सूचना:— वेद, कुरान, बाइबिल, जैन-बौद्ध वाङ्मय, गुरुग्रन्थ आदि में ऐसे अनेक निर्देश-सन्देश हैं, जो मानव कल्याण की एक-समान बात कहते हैं, इन ग्रन्थों की ऐसी समानार्थी सूक्तियों को एक स्थान पर रख कर उन्हें काव्य-रूप देना चाहता हूँ, यदि परम-सत्ता को स्वीकार हुआ (जैसा मुझे नहीं लगता) तो अपनी अगली पुस्तक इसी सन्दर्भ में राष्ट्र के चरणों में अर्पित करूँगा. तब तक के लिये निम्न-पंक्तियों के साथ विदा :—

फिर से चोला बदल के आ जाना
इस जनम का हिसाब बन्द करो !
गा चुके हो 'मयूख' गीत बहुत
जिन्दगी की किताब बन्द करो !!

पत्रालय । सालपुरा
जनपद : कोटा (राजस्थान) —बशीर अहमद 'मयूख'
१३ मई १९७५ ईसवी

अर्हंत्

सव्वे वि होंति सुद्धा,
नत्थि असुद्धो नयो उ सट्ठाणे ॥४७॥

(व्यवहार भाष्य)

उदधाविव सर्वसिन्धवः,
समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते,
प्रविभक्तास सरित्स्विवोदधिः ॥

[विशेषावश्यक भाष्य २२६५ की टीका]

हेउविसओ वणीअं,
जय वयणिज्जं परो नियत्ते ।
जह तं तहा पुरिल्लो,
दाइंतो केण जिव्वंतो ॥३-५८

(सन्मति तर्क)

अनेकान्त

चिन्तन की प्रत्येक दृष्टि
अपने विचार के केन्द्र पर
होती शुद्ध-प्रबुद्ध ।
विविध मतों का कोई भी नय
चिन्तन के आधार पर
होता नहीं अशुद्ध ॥

जिस प्रकार सारी सरिताएँ
सागर में जाकर मिल जातीं
उसी भाँति, हर धर्म-दृष्टि भी
परम सत्य में मिल जाती है ।
जिस प्रकार अगणित
सरिताओं में भी सागर नहीं अवस्थित
उसी भाँति से भिन्न-भिन्न
एकान्तवाद के पक्षों में भी
स्याद्वाद का परम सत्य रहता अनुपस्थित
स्याद्वाद ही परम सत्य है ।

जो स्वपक्ष के सिवा अन्य के किसी पक्ष को
किसी रूप में भी स्वीकार नहीं करता है
उस एकान्तवाद के एकांगी विचार को
प्रतिवादी पक्षों के नेता
दूषित सिद्ध कर दिया करते ।
किन्तु किसी भी नय से सारे
पक्षों को जो करे समाहृत
स्याद्वाद का सबल विजेता वह
हो सकता नहीं पराजित ।

णिययवयणिज्जसच्चा,
सव्वनया परवियालणे मोहा ।
ते उण ण दिट्ठसमओ,
विभयइ सच्चे व अलिए वा ।।

[सन्मति तर्क १-२८ तु०=क०पा० १]

जमणेगधम्मणो वत्थुणो,
तदंसे च सव्वपडिवत्ती ।
अन्धव्व गयावयवे,
तो मिच्छद्दिट्ठिणोवीसु ।।२२६६।।

[विशेषावश्यक भाष्य]

एक्कु करे मण बिण्णि करि,
मं करि वण्ण विसेसु ।
इक्कइं देवइं जं वसइ,
तिहुयणु एहु असेसु ।।२-१०७।।

[परमात्मप्रकाश]

विविध मतों का, हर नय का वक्तव्य
सत्य है निज विचार के केन्द्र पर
किन्तु यही जब,
एक दूसरे के वक्तव्यों का आपस में
निराकरण करने लगते हैं—
मत-मतान्तर बन कर तब
मिथ्या हो जाते !
अमुक सत्य है, अमुक झूठ है—
ऐसा भेद नहीं करता है
अनेकांत-रूप का ज्ञाता।

अपनी अटकल से टटोल कर,
जिस प्रकार जन्मांध पुरुष,
हाथी के हर एक अंग को,
पूरा हाथी समझ बैठता
उसी भाँति से,
मिथ्या-दृष्टि धर्म-मीमांसक
किसी वस्तु के एक अंश को
पूरी वस्तु मान लेते हैं।

भेद मत करो सम्प्रदाय में

राग-द्वेष मत करो बन्धु तुम
गर्व मत करो उच्च जाति का,
त्रिभुवन की सब जीव-राशि
शुद्धात्म-रूप होने के कारण
है समान देखो अभेद-नय से हे आत्मन् !
सब जीवों की जाति बराबर।

जो ण करेदि जुगुप्पं,

चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।

स खलु णिव्विदिगिंछि,

सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ।।२३१।।

[समयसार]

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,

न दीसइ जाइविसेस कोई ।

[उत्त० अ० १२ गा० ३७]

पन्ना समिक्खए धम्मं ।२३।२५

विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहण मिच्छिउं ।२३।३१

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।२३।३२

[उत्तराध्ययन सूत्र]

दुविहे धम्मे, सुयधम्मे चेव, चरितधम्मे चेव ।२।१

जदित्थ णं लोगे, तं सव्वं, दुपओआरं ।२।१

दुविहे बंधे, पज्जबन्धे चेव, दोसबंधे चेव ।२।४

[स्थानांग]

ग्लानि मत करो, भेद मत करो
विविध जाति, कुल, सम्प्रदाय में
जीव-वस्तु के विविध धर्म में।
ऐसा ही साधक होता है
सम्यग्दृष्टि, विहीन-विचिकित्सा।

तप का तो दिखता प्रभाव प्रत्यक्ष मगर,
सम्प्रदाय की कुछ विशिष्टता आती नहीं नज़र।

धर्म-समीक्षा करती है साधक की प्रज्ञा
निर्णय होता धर्म-साधनों का विवेक-विज्ञान से
धर्मों के जो विविध-वेश के भाँति-भाँति के हैं विकल्प
वे केवल जन-साधारण के प्रत्यय हैं पहिचान के।

धर्म

तत्व-ज्ञान, श्रुत-धर्म है, चरित-नीति, आचार
दो स्वरूप हैं धर्म के, मानव इन्हें विचार।
जड़-चेतन दो शब्द में सीमित विश्व-विधान
प्रेम और विद्वेष के बन्धन भी दो जान।

धम्मा-धम्मा न परप्पसाय-
कोपाणुवत्तिश्रो जम्हा ।३२५४

[विशेषावश्यक भाष्य गाथा]

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,
अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमस्संति
जस्स धम्मे सया मणो ।१।१

[दशवैकालिक]

धम्मो दयाविसुद्धो ।८५

[बोध पाहुड]

एगंतेण निसेहो,
जोगेसु न देसिश्रो विही वाऽवि ।
दलिश्रं पप्प निसेहो,
होज्ज विही वा जहा रोगे ।।५५

[श्रोघ० नि० भा० भद्रबाहु]

अर्हत

आत्मा की निज की परिणति ही
धर्म-अधर्म की व्याख्याकार,
प्रसन्नता या क्रोध अन्य का
नहीं बना इसका आधार।

तप–अहिंसा और संयम
धर्म के ये तीन लक्षण।
और इनको आचरण में ढालना ही धर्म है, अति श्रेष्ठ है
उत्कृष्ट मंगल, धर्म है।
मर्म जो भी जान पाया
मन रमा बैठा धरम में
उस मनीषी को नमस्ते
भेजते हैं देवता भी।

पावनता है जहाँ दया की वहाँ धर्म है।

धर्म-क्रान्ति-घोष

जिन-शासन में कोई भी जन
बंधा नहीं एकान्त-रूप से
किसी वर्जना या विधान से।
जैसा रोग, चिकित्सा वैसी,
जैसी स्थितियाँ पैदा हों
विधि-विधान हो तदनुसार ही।

णवि किंचि अणुण्णायं,
पडि सिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं ।
एसा तेसिं आणा,
कज्जे सच्चेण होयव्वं ।।५२४८

[निशीथ भाष्य]

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो ।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण न तावसो ।२५।३१
समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो ।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ।।२५।३२
कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।२५।३३

[उत्तराध्ययन]

वयं च वित्तिं लब्भामो
न य कोइ उवहम्मइ ।१।४

[दशवै.]

असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ।९।२।२३

[दशवै.]

नहीं जनेश्वर ने की है एकान्त वर्जना
किसी कर्म की,
और न, दी, एकान्त आज्ञा।
प्रामाणिकता और सत्य-सम्मत
सुकर्म हो हर मानव का।
निर्णायक, साधक की प्रज्ञा॥

कर्मणा धर्मः

सिर-मुंडन से कोई श्रमण नहीं बन जाता,
और ब्राह्मण नहीं ओम् का जप करने से,
कुश-चीवर धारण करने से कोई तापस नहीं कहाता,
ऋषि-मुनि नहीं बना करते हैं केवल निर्जन में रहने से!
समता-दर्शी श्रमण, ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से,
तप से तपसी, और मनन से मुनि होता है।
कर्म प्रभावित करता जन को, यह सुविचारित
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सब कर्माधारित।

समाजवाद

कष्ट न हो औरों को
ऐसे जियें
जीवन-रस बाँटें सबको
खुद पियें!

अर्जित धन को बाँटता
जो न पुनः संसार को
उसकी मुक्ति नहीं होती।
वह असंविभागी समाज का कोढ़ है।

गाहेण अप्पगाहा,
समुद्दसलिले सचेल अत्थेण ।५

[सूत्र पाहुड]

जो जत्थ होइ कुसलो,
सो उ न हावेइ तं सइ बलम्मि ।१०।५०८
उवकरणेहि विहूणो,
जह वा पुरिसो न साहए कज्जं ।१०।५४०

[व्यवहार भाष्य]

सएणं लाभेणं तुस्सइ
परस्स लाभं णो आसाएइ.... ...
बीच्चा सुहसेज्जा ।४।३

[स्थानांग]

जं इच्छसि अप्पणतो,
जं च न इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि,
एत्तियगं जिणसासणयं ।।४५८४।।

[बृहत्कल्प भाष्य]

सागर में होता अथाह जल
कपड़े धोने के निमित्त पर
ग्रहण किया जाता थोड़ा ही ।
इसी भाँति उपलब्ध वस्तु में से भी
आवश्यकतानुसार ही
ग्रहण करो तो श्रेयस्कर है ।

जो जन जिसमें कुशल और निष्णात है
करे नियोजित उसी कार्य में क्षमता-मन,
पर, अभीष्ट उद्देश्य-कार्य को निश्चय ही
सिद्ध नहीं कर सकता साधन-हीन जन ।
[अतः राष्ट्र के जन को समुचित साधन दो !
पंगु बनी प्रतिभाओं को अभिवादन दो ।]

स्वयं अर्जित लाभ में सन्तुष्ट जो जन,
जो, न लेना चाहता है अन्य का धन
वह सदा सुख-नींद सोता
सर्व चिन्ता-मुक्त मन ।

जो तुम अपने लिए चाहते,
वही अन्य के हित भी चाहो ।
जो निज के हित नहीं चाहते,
दो, न, अन्य को वह परिवेश ।
बस इतना ही जिन-शासन है,
यही तीर्थंकरों का उपदेश ।

नत्थि छुहाए सरिसया वेयणा ।२६०

[ओघ निर्युक्ति भाष्य]

लाभुत्ति न मज्जिज्जा,
अलाभुत्ति न सोइज्जा ।
बहुंपि लद्धुं न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ।।१।२।५

[आचारांग]

आरम्भपूर्वको परिग्रहः ।१।२।२

[सूत्रकृतांग चूर्णि]

जहा दुमस्स पुप्फेसु,
भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ,
सो य पीणेइ अप्पयं ।।१।२।।

[दशवै.]

भूख

भूख बड़ी ही कष्टप्रदाता।
नहीं वेदना जग में कोई
बड़ी क्षुधा से !!

अपरिग्रह

धन पाकर तुम गर्व करो मत
नहीं मिले, तो शोक न भारी।
अधिक मिले, तो संचय मत कर
परिग्रह-वृत्ति नहीं सुखकारी ॥

हिंसा बिना नहीं होता है धन का संग्रह,
अतः अहिंसक मानव त्यागे सारे परिग्रह।

भार नहीं पड़ता गृहस्थ पर किसी भाँति का
ऐसे करते भिक्षा से निर्वाह साधुजन।
रस करता है ग्रहण पुष्प से जैसे भँवरा
किन्तु न होने देता उसकी क्षति या विघटन !

ता भुञ्जिउ लच्छी,

विज्जउ दाणे दयापहाणेण ।

जा जल तरंग अवला

दो तिण्णि दिणाइ चिट्ठेइ ।।१२।।

[कार्तिकेयानु. गाथा]

वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो,

एवं परुमेमो, एवं पण्णवेमो,

सव्वे पाणा, सव्वे भूया,

सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,

न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा,

न उद्दवेयव्वा !

इत्थं विजाणह नत्थित्थ दोसो ।

आरियवयणमेयं ।१।४।२

(आचारांग)

जल-तंरग सी चंचेल लक्ष्मी
ठहरेगी दिन तीन।
जब तक तेरे पास बनी है
आवश्यकता के हित उसका
कर तू भोग प्रवीण।
साथ-साथ ही दया-भाव से
शुभ कर्मों में दान कर।
[तू केवल धन का विनियोजक
ऐसा निज को मान कर]

अहिंसा

अहिंसा के सजग सिद्धान्त की हम व्याख्या करते,
कि हम प्रारूप देते हैं-कि हम प्रज्ञापना करते,
किसी भी जीव-प्राणी, सत्व की हिंसा न हो जाये,
धरा पर युद्ध-हत्या की सचेतक वर्जना करते।
कभी भी त्रास मत देना, बना कर दास प्राणी को
कभी उत्पात मत करना, न हो अन्याय का शासन
अहिंसा धर्म की निर्दोष यह उपरोक्त व्याख्या है
अहिंसा आर्य चिन्तन है, सजग सिद्धान्त है पावन।

एसा भगवई अहिंसा—
भीयाणं व सरणं,
पक्खीणं व सरणं,
तिसियाणं व सलिलं,
खुहियाणं व असणं,
समुद्दमज्झे व पोत-वाहणं,
दुहियाणं ओसहि-बलं,
अडविमज्झे व सत्थगमणं,
एत्तो विसिट्ठतरिया अहिंसा ।१।

(प्रश्न व्या० संवरद्वार)

आहच्च हिंसा समितस्स जा तू,
सा दव्वतो होति ण भावतो उ ।
भावेण हिंसा तु असंजतस्सा,
जे वा वि सत्ते ण सदा वधेति ।।३६३३

(बृहत्कल्प भाष्य)

जले जीवाः स्थले जीवाः,
आकाशे जीवमालनि ।
जीवमालाकुले लोके,
कथं भिक्षुरहिंसकः ।।

[जैन आगमों में स्याद्वाद । भाग १ पृष्ठ ३०]

(पृ. सं. १६६)

शरण पक्षियों को देता ज्यों
नील गगन का मुक्त प्रसार,
प्यासे को पानी, भूखे को
जैसे भोजन का आधार,
सार्थवाह का साथ सफर में
रोगी को औषधि का पान,
सागर-मध्य डूबते जन को
मिल जाये जैसे जलयान,
इन सबसे भी अधिक बड़ा है
एक अहिंसा का संबल,
यह भगवती अहिंसा ही है
भयभीतों का शरण-स्थल।

जो साधक संयम से रहता
यदि उससे हिंसा हो जाये,
कहते उसे द्रव्य की हिंसा
हिंसा होती नहीं भाव की,
किन्तु असंयम से रहने वाला साधक तो
चाहे जीवन भर न करे वध किसी जीव का
तो भी हिंसा करता रहता भाव-रूप से।

जल-थल-गगन सभी जीवों से भरा पड़ा है।
जीवों के इस महालोक में रहकर प्राणी
हिंसा से किस भाँति बचेगा?
इसका सूत्र सुनो हे मुनिजन!

जो भण्णदि हिंसामि य,
हिंसिज्जामि व परेंहि सत्तेंहि।
सो मूढो अण्णाणि,
णाणी एतो दु विवरीओ ॥२४७
[समयसार]

रागादीणमणुप्पा,
अहिंसगतं ति देसिदं समये।
तेंसि चे उप्पत्ती,
हिंसेति जिणेंहि णिद्दिट्ठा ॥१॥
[कषाय पाहुडकी गा० ५२]

णाणं पयासगं,
सोहओ तवो, संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाजोगे,
मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥१०३॥
[आव० नि०]

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागाराणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठि ॥१०२॥
[प्रवचनसार]

मैं जीवों को मार रहा हूँ,
अथवा अन्य किसी से उनको हत करवाता—
ऐसा जो भी सोचे,
वह अज्ञानी जन है।
ज्ञानी इससे भिन्न सोचता।

राग-द्वेष आदि परिणाम-भाव यदि मन में
उदय न हों तो
यही अहिंसा है शास्त्रों में।
इनका-मन में पैदा होना ही हिंसा है।
यही जिनेश्वर की वाणी है
यही अहिंसा का दर्शन।

मोक्ष

तप विशुद्ध करता साधक की आत्मा
ज्ञान उसे देता प्रकाश की दिव्य किरण
संयम करता है निरोध दुष्कर्मों का
तीनों का समयोग मोक्ष है
जिन-शासन का यही कथन।

खोले गाँठ मोह की अपने
राग-द्वेष का भाव हरे।
सम्यग्दृष्टि रखे सुख-दुख में
वही मोक्ष का वरण करे॥

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं ।।
[आचा० श्रु० १ अ० २ उ ५]

परिणामादो बंधो,
मुक्खो जिणसासणे दिट्ठे ।।११६।।
[भाव पाहुड]

सव्वारंभ-परिग्गहणिक्खेवो
सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गमणसमाहाणया य,
अह एत्तिओ मोक्खो ।।४५८५।।
[वृहत्कल्पभाष्य]

णियमं मोक्ख उवायो
तस्स फलं हवदि परमणिव्वाणं ।।४।।
[नियमसार]

निर्मल करो ज्ञान को अपने
त्यागो मोह और अज्ञान ।
राग द्वेष को नष्ट करो तो
मिले मोक्ष जो सुख की खान ।।

साधक की परिणाम-भावना से ही
मुक्ति-मोक्ष मिलता है
और भावना से ही होता है बंधन
यह जिन-शासन का कथन ।

सभी करें, आरम्भ और परिग्रह का त्याग
हर प्राणी के लिए रखें समता का भाव,
और चित्तको दें समाधि-रूपी तन्मयता
तो समझो हो गया मोक्ष का प्रादुर्भाव !!

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र नियम हैं ।
इनका पालन मुक्ति-मार्ग है
और परम निर्वाण, नियम-पालन का फल है !!

जह णवि लहदि हु लक्खं,
रहिग्रो कंडस्स वेज्झय विहीणो ।
तह णवि लक्खदि लक्खं,
अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

[बोध पाहुड]

ण हि आगमेण सिज्झदि,
सदहणं जदि वि णत्थि जत्थेसु ।
सद्दहमाणे अत्थे,
असंजदो वा ण णिव्वादि ॥१२६॥

[प्रवचनसार]

जे आसवा ते परिस्सवा,
जे परिस्सवा ते आसवा,
जे अणासवा ते अपरिस्सवा,
जे अपरिस्सवा ते अणासवा ॥१।४।२

[आचारांग]

धम्मम्मि निप्पवासो,
दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो ।
निप्फलनिग्गुणयारो,
नखसवणो नग्गरूवेण ॥७१॥

[मोक्ष पाहुड]

बिना बाण के लक्ष्य-भेद
कर सकता नहीं धनुर्धर जैसे,
बिना ज्ञान के मोक्ष-लक्ष्य भी
प्राप्त नहीं हो सकता वैसे।

मुक्ति नहीं होती है केवल शास्त्र-ज्ञान से,
सम्यक् श्रद्धा, प्रेम, भक्ति, रुचि आवश्यक है।
श्रद्धा-भक्ति आदि हो जाने पर भी मानव
संयम का सिद्धान्त न पाले यदि जीवन में,
तो उसका निर्वाण न होता।

जो बन्धन के हेतु बने हैं
वही मोक्ष के भी हो सकते।
हेतु बने जो आज मोक्ष के
बन सकते हैं कल वे बन्धन।
अंतरंग भावों पर होता
इन सबका स्वरूप-निर्धारण।।

मोक्ष-मार्ग है मात्र नहीं नंगा हो जाना।
बसे न जिसका चित्त धर्म में
दोषों का आवास हो,
ईख-फूल सा निष्फल-निर्गुण
जिस मुनि का संन्यास हो,
ऐसा श्रमण नग्न वेश में
अभिनय करने वाला नट है।

पक्के फलम्मि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

[समयसार]

हयं नाणं क्रियाहीणं,
हया अन्नाणओ किया।
पासंतो पंगुलो दड्ढा,
धावमाणो य अंधओ ॥११५९॥
संजोगसिद्धीइ फलं वयन्ति,
न हु एगचक्केण रहो पयाइ।
अंधो य पंगू य वणे समिच्चा,
ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा ॥११६५॥

[विशेषावश्यक भाष्य]

जहा दड्ढाणं बीयाणं,
न जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीयेसु दड्ढेसु,
न जायन्ति भवंकुरा ॥५-१५॥

[दशाश्रुत]

पेड़ से फल पक कर गिरता
नहीं हो सकता फिर सम्पृक्त
पुनः अपनी ही टहनी से।
जीव का कर्म-भाव पक कर
कि जब गिर जाता है तब पुनः
उदय को प्राप्त नहीं होता ॥

पंगु व्यक्ति कितना भी देखे लगी आग को
और अंध कितना भी दौड़े
जलने से बच नहीं सकेगा।
किन्तु अन्ध यदि
कंधों पर बैठा ले अपने पंगु बंधु को
और पंगु पथ को दिखलाये—
दोनों पार निकल जायेंगे! (ज्वलित अग्नि से)
इसी भाँति से
क्रिया-हीन ज्ञान हत होता,
ज्ञान-विहीन क्रिया भी निष्फल!
[अन्तस्तल की शुद्ध भावना
दया-धर्म के बहितत्व से—
मिलने पर ही मिल पाता है
महामोक्ष का पावन फल!]

जिस प्रकार से किसी बीज के
अग्नि-दग्ध हो जाने पर फिर
उससे अंकुर नहीं निकलता
उसी भाँति से,
कर्म-रूप बीज जलने पर
उससे अंकुर नहीं निकलता
[मुक्त जीव फिर धारण करते नहीं जन्म को]

जह विसमुवभुंजंतो,
वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि ।
पुग्गलकम्मस्सुदयं,
तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी ॥१९५॥

[समयसार]

सेणावतिम्मि निहते,
जहा सेणा पणस्सति ।
एवं कम्माणि णस्संति,
मोहणिज्जे खयं गए ॥५-१५॥

[दशाश्रुत]

भोगी भोगे परिच्चयमाणे महाणिज्जरे
महापज्जवसाणं भवइ ।७।७।

(भगवती सूत्र)

विष खाता है वैद्य किन्तु मरता नहीं
उसी भाँति से सम्यक्-बोधी आत्मा
कर्मोदय के कारण सुख-दुख भोगती
पर उससे आबद्ध-लिप्त होती नहीं ।

जिस प्रकार सेनापति के हत हो जाने पर
सारी सैन्य पलायन करती
अथवा मारी जाती है,
उसी भाँति से, राग-द्वेष के
कारण-भूत मोह-कर्मों के
क्षय हो जाने से निश्चय ही
शेष सभी दुष्कर्मों का क्षय
अपने आप स्वतः हो जाता ।

त्याग-भाव

जो समर्थ होकर भी करता
भोगों का परित्याग,
वह कर्मों की करे निर्जरा,
मिले महा फल-भाग !

नाण-दंसण-सम्पन्नं, संजमे य तवे रयं ।
एवं गुण-समाउत्तं, संजयं साहु मालवे ।।
जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठी कुव्वई ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चई ।।

(दश० अ० गा० ४६)

सव्वत्थुवहिणा बुद्धा,
संरक्खण परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि,
ना परन्ति ममाइयं ।।६।२२।।

(दशवैकालिक)

न वि अत्थि न वि अहोही,
सज्झाय समं तवोकम्मं ।११६६।

(वृ० भा०)

जई वणवासमिस्सेणं नाणी जाव तवस्सी भवति,
तेण सीहवग्घादयो वि ।।१।७।१।।

(आचारांग चूर्णि)

सद्गुण धारण करने वाला
संयम-तपश्चरण में लीन,
सच्चा साधु वही जो दर्शन–
और ज्ञान में पूर्ण प्रवीण।
सुन्दर प्रिय भोगों को पाकर भी
जो देता उन्हें नकार,
सच्चा त्यागी वही कि जिसको
किंचित् नहीं भोग से प्यार ।।

समता-भोगी वीतरागियों को
ममत्व जब नहीं देह पर,
पात्र-वस्त्र आदि की ममता
वे कैसे रख सकते हैं ?

तप

वर्त्तमान में, या अतीत में, या भविष्य में,
स्वाध्याय सा तप न हुआ है, और न होगा !

यदि केवल वन में रहने से–
ज्ञान मिले, तप हो जाता हो–
तो फिर सिंह-बाघ आदि सब
ज्ञानी और तपस्वी होते !

अरणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे ।
से केयरणं अरिहए पूरइत्तए ।
अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मेहिं ।१।३।२

[आचारांग]

विरणओ सासरणेमूलं,
विरणीओ संजओ भवे ।
विरणयाओ विप्पमुक्कस्स,
कओ धम्मो कओ तवो ? ३४६८

[विशेषावश्यक भाष्य गाथा]

पव्वयराइसमारणं कोहं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।
सेलथंभसमारणं मारणं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।
वंसीमूलकेतरणासमारणं मायं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।
किमिरागरत्तवत्थसमारणं लोभं अणुपविट्ठे जीवे
कालं करेइ णेरइएसु उववज्जति ।४।२

[स्थानांग]

संयम

हैं अनेकों कामनाएं, हैं अनेकों मन
चित्त की हर वृत्ति है बिखरी हुई उन्मन,
क्षुद्र भोगों की न हो यदि कामना
तो न डूबे पाप में, निष्पाप हो जीवन।

संयम कर सकता विनीत ही
जिन-शासन का मूल विनय ।
विनयहीन साधक का जग में
व्यर्थ धर्म-तप है निश्चय ।

उग्र क्रोध, अविचल दरार जैसे पर्वत की,
अहंकार, जैसे अनमित पाषाण-स्तम्भ,
लोभ, कि जैसे हो मजीठ का पक्का रंग,
और बांस की जड़ सा गांठ-गठीला दम्भ,
ले जाते हैं नरक दिशा को आत्मा
ये सब दूषण दूर करे परमात्मा ।

जहा महातलागस्स,
सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए,
कमेणं सोसणा भवे ॥५॥
एवं तु संजयस्सावि,
पावकम्मनिरासये ।
भवकोडीसंचियं कम्मं,
तवसा णिज्जरिज्जइ ॥६॥

[उत्तरा० ३०]

झाणणिलीणो साहू,
परिचागं कुणई सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेवहि,
सव्वदिचारस्स पडिकमणं ॥९३॥

[नियमसार]

जैसे किसी तडाग में
जला गमन का द्वार रोक कर
जल-निकास कर देने से
सूर्य-ताप से सारा जल उड़ जाता है;
उसी भाँति संयमी साधु भी
राग-द्वेष के पाप-द्वार में लगा अर्गला
संचित कर्मों का क्षय करता
अपने तपःकर्म के द्वारा !

ध्यान

ध्यान-लीन साधक समर्थ—
होता हर दोष-निवारण में
सब दोषों—अतिचारों का प्रतिक्रमण
ध्यान से सम्भव है ।

छिन्दन्ति भावसमणा,

झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ॥१२२॥

[भाव पाहुड]

तह रायानिलरहिओ,

झाणपईवो वि पज्जलई ॥१२३॥

[भाव पाहुड]

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह,

किं वि जेण होइ थिरो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ,

इणमेव परं हवे झाणं ॥५६॥

[द्रव्य-संग्रह]

काटते भव वृक्ष-को
ध्यान-रूप कुठार से
जो श्रमण हैं भाव से ।

हवा से मुक्त स्थान में दीप
जला करता जैसे निर्विघ्न,
प्रज्ज्वलित रहता उसी प्रकार
ध्यान का दीपक ग्रन्तर में
राग के झंझावातों से
मुक्त रहकर मन-मन्दिर में ।

वाणी से कुछ नहीं बोलता
नहीं चेष्टा करती देह
नहीं चिन्तवन करता मन से
योगी बना विदेह ।
काया, वचन, ग्रौर मन तीनों
जब हो जाते हैं स्थिर
लीन ग्रात्मा में ग्रात्मा तब
हो जाती है उसकी फिर
यही ध्यान की चरम ग्रवस्था
परम ध्यान है
शुक्ल ध्यान है
ग्रौ समाधि है !

चरणगुणविप्पहीणो, बुड्डई सुबहुंपि जाणंतो ॥९७॥

सुबहुंपि सुयमहीयं,

किं काही चरणविप्पहीणस्स ?

अंधस जह पलित्ता,

दीवसय सहस्सकोडी वि ॥९८॥

अप्पं पि सुयमहीयं,

पयासयं होइ चरणजुत्तस्स ।

इक्को वि जह पईवो,

सचक्खुअस्सा पयासेइ ॥९९॥

जहा खरो चंदणभारवाही,

भारस्स भागी न हु चंदणस्स ।

एवं खु नाणी चरणेण हीणो,

नाणस्स भागी न हु सोग्गईए ॥१००॥

[आचार्य भद्रबाहु, आव० नि०]

हयं नाणं किया हीणं,

हया अन्नाणओ किया ।

पासंतो पंगुलो वड्ढो,

धावमाणो अ अंधओ ॥१०१॥

[आव० नि०]

ज्ञान

जिसके नयन खुले हैं उसको
एक दोप की ज्योति बहुत है।
कोटि दीप बालो तो भी क्या
अंधे को प्रकाश मिल सकता ?
जो चरित्र से हीन व्यक्ति है
वह कितना भी करे अध्ययन विविध शास्त्र का—
तो भी ज्ञानी नहीं बनेगा।
सच्चरित्र साधक थोड़ा भी करे अध्ययन
तो निश्चय ही ज्ञान मिलेगा।
एक गधा चाहे चंदन का भार उठाये
तो भी उसको मलय-गंध का बोध न होता,
इसी भाँति से, जो चरित्र से हीन व्यक्ति है
उसकी सद्गति कहीं नहीं, वह
केवल ज्ञान-भार भर ढ़ोता।

वन में अग्नि लगे तो, जैसे
पंगु व्यक्ति कितना भी देखे,
चक्षु-हीन कितना भी दौड़े,
दावानल से बच न सकेगा।
इसी भाँति से जो आचार-हीन ज्ञान है
और ज्ञान से हीन आचरण
उसका नाश अवश्यम्भावी
[दे न सकेगा वह समाज को अभिनव चिन्तन।]

जह कणयमग्गितवियं पि,
कणयभावं ण तं परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयतविदो,
ण जहदि णाणी दु णाणित्तं ॥१८४॥

(आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार)

जह जह सुज्झइ सलिलं,
तह तह रूवाइं पासई दिट्ठी ।
इय जह जह तत्तरूई,
तह तह तत्तागमो होई ॥११६३॥

[आव॰ नि॰]

णाणी रागप्पजहो,
सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पइ रजएण दु,
कद्दममज्झे जहा कणयं ॥
अण्णाणी पुण रत्तो,
सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरूएण दु,
कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२१८-२१९॥

[समयसार]

निज स्वरूप को नहीं छोड़ता है ज्ञानी
कर्मोदय के कारण यदि होता उत्तप्त।
अग्नि-तप्त होने पर भी जैसे कुन्दन
नहीं छोड़ता है अपने निज का स्वर्णत्व ।।

निर्मल जल होगा जितना भी स्वच्छतर
साफ़-साफ़ देखेगा द्रष्टा, उतना ही प्रतिबिम्ब को
जगती जितनी तत्त्व-ज्ञान की रुचि मानव के अंतर में
उतना करती प्राप्त आत्मा, तत्व-ज्ञान अभ्यंतर में।

जैसे कीचड़ में पड़ा स्वर्ण
कर्दम में लिप्त नहीं होता
लगता है उस पर जंग नहीं
वैसे ही ज्ञानी जन जग में
करता है कर्म किन्तु उनसे
होता न लिप्त, रहता विरक्त ।
इसके विरुद्ध अज्ञानी जन
रखता पदार्थ में राग-भाव
हो जाता दूषित-कर्म-लिप्त
जैसे लोहा कीचड़ में पड़
हो जाता विकृत जंग-युक्त ।।

आदा णाण पमाणं,

णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं ।

णेयं लोयालोयं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं ।।१।१४।।

[प्रवचन०]

आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं परं वियाणादि ।।३।३३।।

[प्रवचन०]

रागो जस्स पसत्थो,

अणुकंपा संसिदो य परिणामो ।

चित्तम्हि णत्थि कलुसं,

पुण्णं जीवस्स आसवदि ।।१३५।।

[पंचास्तिकाय]

ज्ञानघनानां हि साधूनां

किमन्यद् वित्तं स्यात् ? ।।१।१४।।

[सूत्रकृतांग चूर्णि]

णाणे णाणुवदेसे,

अवट्टमाणो उ अन्नाणी ।।४७९१।।

[निशीथ भाष्य]

आत्मा ज्ञान-प्रमाण है
और ज्ञान है ज्ञेय-प्रमाण;
लोकालोक प्रमाण ज्ञेय है,
अतः ज्ञान है सर्व प्रमाण ।।

नहीं जानता है निज को, या अन्य को
शास्त्र-ज्ञान से शून्य श्रमण ।।

जिसका राग प्रशस्त है
मन में नहीं कलुष का भाव
अनुकंपा की वृत्ति हृदय में जागृत
और स्नेह से सिक्त स्वभाव
उस प्राणी को पुण्य का
होता आश्रव-प्रादुर्भाव ।

जो कि ज्ञान के वैभव से
हैं समुचित सम्पन्न,
नहीं चाहिये ऐश्वर्य
उन्हें विश्व का अन्य ।

ज्ञान-सम्मत आचरण करता न जो
ज्ञान पाकर भी निपट वह मूर्ख है ।

सुवइ य अजगर भूतो,
सुयं पि से णासती अमयभूयं ।
होहिती गोणब्भूयो,
णट्ठंमि सुये अमयभूये ॥५३०५॥

[निशीथ भाष्य]

मङ्गवकरणं णाणं,
तेणेव य जे मदं समुवहंति ।
ऊणगभायणसरिसा,
अगदो वि विसायते तेसिं ॥६२२२॥

[नि० भा०]

णाणं चरित्तसुद्धं···थोओ पि महाफलो होइ ॥६॥
[शील पाहुड]

जेण रागा विरज्जेज्ज,
जेण सेस्सु रज्जदि ।
जेण मेती पभावेज्ज,
तं णाणं जिणसासणं ॥२६८-५-८६॥

[मूलाचार गाथा]

अजगर सर्प सरीखा जो सोता रहता है
नष्ट-भ्रष्ट हो जाता उसका अमृत-रूपी ज्ञान।
और ज्ञान-श्रुत के विनष्ट हो जाने से जन
बैल-सरीखा बुद्धिहीन पशु के समान ।।

ज्ञान बनाता मृदु मानव को,
पर कुछ ज्ञानी ऐसे होते
जो कि ज्ञान के मद से उद्धत !
आधी भरी गगरिया जल की
हिचकोलों से जैसे छलकी
बिष बन जाती उनको अमृत-रूपी औषधि ।

ज्ञान शुद्ध हो यदि चरित्र से,
हो चाहे अत्यल्प मात्रा
तो भी वह महान् फलदाता
सफल करे जीवन की यात्रा ।।

ज्ञान वही है जिसके द्वारा
व्यक्ति राग से रहित बनें ।
हर प्राणी से मित्र-भाव हो,
श्रेय-मार्ग में रत स्वभाव हो
जिस चिन्तन के द्वारा मन में
वही ज्ञान है जिन-दर्शन में ।

नाणेण य झायेण य,
तवोबलेण य बाला निरुधंति ।
इंदियविसयकसाया,
धरिया तुरगा व रज्जूहिं ॥६२१॥

[मरण समा०]

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च,
दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ॥२०।३७॥

[उत्तराध्ययन]

जीवो परिणमदि जदा,
सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो
हवदि हि परिणामसब्भावो ॥१।९॥

[प्रवचनसार]

जारिसिया सिद्धप्पा,
भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ॥१८॥

[नियमसार]

जिस प्रकार वल्गा से करते
वश में घोड़ा,
उसी भाँति से ज्ञान-ध्यान औ तप के द्वारा
इन्द्रिय-विषय, कषायों को बल-पूर्वक वश में
करते हैं ज्ञानी-ध्यानी जन।

आत्मा

आत्मा ही सुख-दुखों की
भोक्ता है और कर्ता।
पुण्य-कर्मी आत्मा है मित्र जैसी,
और जो दुष्कर्म-रत, वह शत्रु है॥

है परिणमन स्वभाव आत्मा का
परिणत होता जब वह शुभ या अशुभ भाव में
तदनुसार ही बन जाता उसका स्वरूप भी
तद् प्रभाव में।

मुक्त-मना सिद्धों की होती
मुक्त आत्मा जैसी
संसारी जन की भी होती
मूल रूप में वैसी।

केवल सत्तिसहावो, सोहं इदि चिंतए णाणी ॥६६॥

आलंबणं च मे आदा ॥६६॥

[नियमसार]

एगो मे सासदो अप्पा,

णाणदंसणलक्खणो ।

सेसा मे बाहिरा भावा,

सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

[नियमसार]

अप्पाणं विणु णाणं,

णाणं विणु अप्पगो न संदेहो ॥१७१॥

[नियमसार]

सुपरिणामो पुण्णं,

असुहो पावं ति हवदि जीवस्स ॥१३२॥

[पंचास्तिकाय]

केवल शक्ति-रूप भर हूं मै
ज्ञानी इतना ही सोचे।
मेरा एकमात्र आलंबन
केवल मेरी आत्मा।

दर्शन-ज्ञान-रूप यह मेरी आत्मा
शाश्वत-तत्त्व महान् है।
राग-द्वेष, कर्म आदि के
ये जितने भी भाव हैं,
ये सब मेरे नहीं अपितु संयोग-जन्य हैं
केवल बाह्य-प्रभाव हैं।

नहीं आत्मा के अभाव में ज्ञान है
और ज्ञान के बिना नहीं है आत्मा
एक दूसरे के दोनों पूरक-परिपूरक
ज्ञान-आत्मा, यह निश्चित सिद्धान्त है।

शुभ परिणमन आत्मा का ही पुण्य है,
और अशुभ परिणाम कलुष है—पाप है।

दुःखे णज्जइ अप्पा ।।६५।।

तिपयारो सो अप्पा,
परमंतरबाहिरो दु हेऊणं ।।४।।
अक्खाणि बहिरप्पा,
अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो ।।५।।

[मोक्ष पाहुड]

छुहतण्हभीकरोसो रागो मोहो चिन्ता जरा रुजा मिच्चू ।
स्वेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ।।६।।
णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा ।।७।।

[नियमसार]

तिमिरहरा जइ दिट्ठी,
जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं ।
तह सोक्खं सयमादा,
विसया किं तत्थ कुव्वंति ? ।।१।६७।।

[प्रवचनसार]

आत्मा को जानना निश्चय कठिन !
तीन इसकी कोटियाँ हैं
तीन हैं इसके प्रकार-
आत्मा, बहिरात्मा, परमात्मा।
इन्द्रियों में जो कि है आसक्त-
वह बहिरात्मा है ।
आत्म-अनुभव-रूप, संकल्पित हृदय में
है उसी का नाम अन्तर आत्मा।
[और तीनों का मिलन परमात्मा]

कितने बंध लगे आत्मा को, कितने बंध लगे ।
रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, भय, क्षुधा, द्वेष, उद्वेग,
तृष्णा, राग, मोह, चिन्ता, मद औ' निद्रा का वेग ।।
विस्मय, खेद, पसीना, रति के साथ जन्म का बंध,
इन अट्ठारह दोषों का है आत्मा से सम्बन्ध ।।
जो इन सबसे मुक्त है–वैभव से संयुक्त है
केवलज्ञानी आत्मा, वह निश्चय परमात्मा ।।

जिसकी दृष्टि स्वयं करती हो
अन्धकार का नाश,
उसको जलता दीप भला क्या-
-देगा ज्योति प्रकाश ।
इसी भाँति जिसकी आत्मा का
सुखस्वरूप में हुआ विलय
वह तो परमानन्द लीन है
क्या सुख देंगे उसे विषय ?।

सपरं बाधासहियं,
विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दियेहिं लद्धं, तं सोक्खं
दुःखमेव तहा ॥१।७६॥

[प्रवचनसार]

सारद सलिलं व सुद्ध हियया,...
विहग इव विप्पमुक्का,...
वसुंधरा इव सव्व फासविसहा ॥२।१।१५॥

[सूत्रकृतांग]

लाभालाभे सुहे दुःखे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदा पसंसासु, समो माणावमाणओ ॥१९।९१॥

[उत्तराध्ययन]

णत्थि य से कोइ वेसो,
पिओ य सव्वेसु चेव जीवेसु ।
एएण होइ समणो,
एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥

[अनुयोगद्वार सूत्र]

जो आनन्द प्राप्त करती हैं इन्द्रियाँ
वह पर-आश्रित ।
बाधा-सहित, बंध का कारण
विषम और विच्छिन्न है ।
अतः वस्तुतः
वह सुख नहीं, दुःख ही होता
इन्द्रिय-जन्य सुखों से निश्चय
आत्मानन्द विभिन्न है ।

मुनि-श्रमण

मुनिजनों का मन शरद् ऋतु की नदी सा
पारदर्शी स्वच्छ निर्मल नीर ।
बन्धनों से मुक्त पक्षी सा सहज-स्वच्छन्द,
और पृथ्वी की तरह सम भाव से,
सुख-दुखों की सहन करता पीर ।

लाभ-हानि, जीवन-मरण,
सुख-दुख, मान-अपमान,
निंदा-स्तुति में सम रहे
मुनि उसको ही जान ।

सच्चा श्रमण वही है जिसका
नहीं किसी से द्वेष हो ।
सारे जीव जिसे प्यारे हों,
समदर्शी परिवेश हो ।।

जो भिंदेइ खुहं खलु,
सो भिक्खू भावश्रो होइ ॥३७५॥
नाणी संजम सहिश्रो नायव्वो भावश्रो समणो ॥३८६॥

[उ० नि० आचार्य भद्रबाहु]

तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति,
भास्करो यथा लोकम् ।
तीर्थंप्रवर्तनाय प्रवर्तते,
तीर्थंकर एवम् ॥

(नन्दिसूत्र ।२ की मलयगिरि टीका)

अभिवंसु पुरा वि भिक्खवो,
आएसा वि भवंति सव्वता ।
एयाइं गुणाइं आहु ते,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥

(सूत्रकृतांग १-२-३-२०)

जो अपने मन की तृष्णा का भेदन करता
भिक्षु वही है भाव रूप में।
संयम की सज्ञान-साधना में जो रत है-
वही श्रमण है सत्य रूप में।

तीर्थंकर

जैसे सूरज निज स्वभाव से
लोक प्रकाशित करने को होता संकल्पित
उसी भाँति से तीर्थंकर भी
सारे ही प्रवृत्त होते हैं
तीर्थ-वर्तना के हित अपने निज स्वभाव से।
(जन-समाज को ज्योति दिखाते स्वस्थ भाव से)

कोई भी तीर्थंकर, होता नहीं-
प्रवर्तक नये धर्म का।
अनुवर्तक होता है केवल पूर्व-धर्म का।
भूतकाल के
या भविष्य में होने वाले सब तीर्थंकर
व्रती-संयमी महापुरुष होते हैं-होंगे,
जन समाज को
दिशा-बोध देते हैं-देंगे।

जे पुव्वरत्तावररत्तकाले,
संपेहए अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किंच मे किच्चसेसं,
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ।।२।१२।२०।

[दशवैकालिक, चू०]

कुणमाणोऽवि निवित्ति
परिच्चयंतोऽवि सयण धन भोए ।
वितोऽवि दुहस्स उरं,
मिच्छद्दिट्ठी न सिज्झई उ ।।२२०।।

[आ० भद्रबाहु, आचा० निर्युक्ति गाथा]

साधक

हे जागृत साधक, हे मानव !
रोज़ साँझ को-रोज़ सवेरे
सम्यक् आत्म-निरीक्षण कर ।
क्या क्या काम किये तूने,
क्या नहीं किये हैं ?
कितने करने और शेष हैं पुण्य कर्म, जो-
अब तक तू कर नहीं सका है ?
इन सबका लेखा जोखा ले,
निज का आत्म-परीक्षण कर ।
रोज़ साँझ को-रोज़ सवेरे,
सम्यक् आत्म-निरीक्षण कर ।

भोग-विलास, स्वजन-धन त्यागे सब आराधक
सहन करे अगणित कष्टों को धीर भाव से,
किन्तु दृष्टि यदि मिथ्या है चिन्तन की साधक !
मोक्ष नहीं मिल पायेगा तप के प्रभाव से ।
करे साधना चाहे कितनी भी निवृत्ति की
निश्चय, दृष्टि-दोष सिद्धि में होगा बाधक ।।

आहारमिच्छे मियमेसणिज्जं,
सहायमिच्छे निउणत्थ बुद्धि ।
निकेयमिच्छेज्ज विवेग-जोग्गं,
समाहिकामे समणे तवस्सी ।।४।।
न वा लभेज्जा निउणं सहायं
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणे ।।५।।

[उत्त० अ० ३२]

लज्जा-दया-संजम-बंभचेरं,
कल्लाणभागिस्स विसोहि ठाणं ।।

(दश० अ० ६ गा० १३)

पमत्तो बहिया पास,
अपमत्तो परिव्वए ।

(आचा० श्रु० १ अ० ५ उ० २)

आगमचक्खू साहू,
इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।।३।३४ ।।

[प्रव० सार]

जो समाधि की इच्छा रखता,
ग्रहण करे वह परिमित और शुद्ध आहार ।
निपुण बुद्धि वाले साथी की खोज करे,
और ध्यान के हित निर्जन में करे विहार ।
मिले न साथी यदि अपने से अधिक गुणी-
या समान गुण वाला, तो निस्संग रहे ।
अनासक्त रह कर भोगों से, दुष्कर्मों का कर परित्याग
एकाकी विचरे, पापी का संग भूलकर नहीं करे ।

ब्रह्मचर्य, संयम, नियम,
लज्जा, चार विचार
साधक इनको साध ले
बने शुद्ध आचार ।

अप्रमत्त होकर विचरे धरती पर साधक
पुरुष प्रमादी होता धर्म-पंथ का बाधक ।

अन्य प्राणी इन्द्रियों की आँख वाले हैं,
किन्तु साधक को मिली है दृष्टि आगम की ।

अदीणो वित्तिमेसेज्जा,
न विसीएज्ज पंडिए ॥५।२।२८॥
पूयणट्ठा जसोकामी,
माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं,
मायासल्लम च कुव्वई ॥५।२।३७॥
अणुमायं पि मेहावी,
मायामोसं वि वज्जए ॥५।२।५१॥

(दश वै०)

कोहं माणं च मायं च,
लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ,
इच्छंतो हियमप्पणो ॥८।३७॥
कोहो पीइं पणासेइ,
माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेई,
लोभो सव्वं विणासणो ॥८।३८॥

(दश वै०)

पड़ रहा पूजा-प्रतिष्ठा के भँवर में भ्रष्ट साधक ।
दौड़ता सम्मान के हित, मान-यश की भूख जिसको ।
पाप-कर्मों में पड़ा है दम्भ रचता है अनेकों ।
आत्म-विद् पर शुद्ध साधक ।
चल रहा संसार-यात्रा में सहज गति
शुद्ध साधक ।
खिन्न मन होता न उसका
भाव रहते हैं अदीने !
दूर है माया-मृषा से
संग अणु भर भी न बाधक !
आत्म-विद् वह शुद्ध साधक !!

माया-मान, क्रोध और लालच
सब पापों के मूल हैं ।
साधक के संसार में
चुभने वाले शूल हैं ।
क्रोध, प्रीत का नाश करें तो—
करे विनय का मान ।
माया करती मैत्री—
—नष्ट, इसे तू जान ।
हर लेता सद्गुण सभी
लोभ हृदय में जाग कर,
आत्मा का जो हित चाहे
इन सबका परित्याग कर ।
हे साधक, परित्याग कर ।
हे मानव, परित्याग कर ।

तणकणए समभावा,
पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

(बोध पाहुड)

सीलगुणवज्जिदाणं,
णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥१५॥

[शील पाहुड आ० कुन्दकुन्द]

सीलं विसय विरागो ॥४०॥

[शी० पा० आ० कुन्दकुन्द]

कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदीव कूलं कुलटा उ नारी ॥३२५१॥

[बृहत्कल्प भाष्य]

रहे दृष्टि में तिनका-सोना एकसमान,
तभी दीक्षा और प्रव्रज्या उसको जान !

शील

शील-गुण से यदि नहीं सम्पन्न है जन,
जन्म मानव-कोटि में है निष्प्रयोजन ।

(सम्यग्-दर्शन, ज्ञान, तप,
ब्रह्मचर्य, दम, सत्य,
औ' अचौर्य के साथ मिले जब
जीव-दया का रंग)
ये सारे विराग मिलकर ही
बने शील के अंग ।

मुक्त आचरण वाली नारी करती दोनों कुल को भ्रष्ट ।
यदि सरिता स्वच्छन्द बहे तो, करती दोनों कूल विनष्ट ।

ण मूसणं भूसयते सरीरं,

विभूसणं सील हिरी य इत्थिए ॥४११८॥

[बृ० भा०]

जं मे तव-नियम-संजम-सज्झाय-झाणा-

ऽवस्सयमादीएसु जोगेसु जयना, से त्तं जत्ता॥१८।१०॥

[भगवती सूत्र]

जयं चरे जयं चिट्ठे,

जयमासे जयं सए ।

जयं भुंजंतो भासन्तो

पावकम्मं न बंधइ ॥

[दश० अ० ४ गा० ८–६]

सम्मतरयणभट्ठा,

जाणंता बहु विहाइं सत्थाइं ।

आराहणा विरहिया,

भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

[दर्शन पाहुड]

नारी के आभूषण लज्जा-शील हैं
शोभा नहीं बढ़ा सकते बाहर के भूषण ।

विवेक-वृत्ति

स्वाध्याय-संयम-नियम
तप-आवश्यक ध्यान
इन योगों में जो विवेक से युक्त वृत्ति है
वही हमारी यात्रा, और वही गन्तव्य
जीवन-लक्ष्य महान् !

जो विवेक से चले, खड़ा हो,
बैठे, भोजन करे,
उठे औ' सोये-जागे,
हो विवेक-सम्मत जिसका प्रत्येक आचरण
उसको बंधते नहीं पाप-कर्मों के बन्धन ।

ज्ञान उतरे आचरण में

विविध वेद-वेदांग पढ़े, ले ज्ञान शास्त्र से,
किन्तु नहीं कर पाये यदि उनका आवाहन
अपने दैनिक व्यवहारों में-आचारों में,
तो समझो वह अर्थ-ज्ञान से शून्य
शब्द का ज्ञाता केवल
आध्यात्मिक जग के दर्शन कर नहीं सकेगा ।
[चिंतन का आचरणों में प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है]

सबहुं पि सुयमहीयं,
किं काही चरणविप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता
दीव सयसहस्सकोडी वि ॥११५२॥

[विशे० आव० भा०]

परमाणुमित्तियं वि हु,
रागादीणं तु विज्जदे जस्सा ।
णवि सो जाणदि अप्पा-
णयं तु सव्वागमपरो वि ॥२०१॥

[समयसार]

जहा कुम्मे सअंगाइं,
सए देहे समाहरे ।
एवं पावाई मेहावी
अज्झप्पेण समाहरे ॥१-८-१६॥

[सूत्रकृतांग]

शत करोड़ दीपक भी जैसे
अन्धे को प्रकाश देने में
होते हैं असमर्थ;
उसी भांति से,
विविध शास्त्र का ज्ञाता जन भी
यदि चारित्र-हीन हो तो फिर,
उसका सारा शास्त्र-ज्ञान भी
होता निष्फल व्यर्थ ।

जिसके मन में अणु-परमाणु बराबर भी है
राग द्वेष का वास,
सकल शास्त्र का ज्ञाता होकर भी अज्ञानी
पाता नहीं प्रकाश ।
[होता नहीं उसे अपनी ही आत्मा का आभास ।]

जिस प्रकार कछुआ विपत्ति में
लेता अपने अंग समेट
उसी भांति से ज्ञानी जन भी
पाप-विषय की ओर अग्रसर
प्रकृत-इन्द्रियों के विकार को
लेते अपने आप समेट ।
निज अध्यात्म ज्ञान के द्वारा ।

सेवंतो वि ण सेवइ,
असेवमाणो पि सेवगो कोई ।
पगरणचट्ठा कस्सवि,
ण व पायरणोत्ति सो होई ॥१९७॥

[समयसार]

भावे विरत्तो मणुवो विसोगो,
एएसा दुक्खोहपरंपरेण ।
ण लिप्पई भवमज्झे निसंतो,
जलेण वा पोक्खरिणि पलासं ॥३२।९९।३४॥

[उत्तरा०]

जं मया दिस्सदे इवं,
तं ण जाणदि सव्वहा ।
जाणवं दिस्सदे णंते
तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥

[मोक्ख पाहुड]

ज्ञानी जन का मन वैरागी

ज्ञानी जन का मन का वैरागी ।
ग्रहण नहीं करता वह कुछ भी
और न करता त्याग ।
जो वैराग्य-परायण होता-
वह विषयों का सेवन करते रहने पर भी
उनको मन से नहीं भोगता ।
विषयासक्त व्यक्ति पर, इनको
नहीं भोगने पर भी मन से भोग रहा है ।
जैसे किसी अन्य के द्वारा
किसी कार्य को निर्देशित जन
स्वामी होता नहीं स्वयं की चेष्टाओं का
उसी भांति से होता ज्ञानी जन का मन ।

मोह शोक उत्पन्न नहीं करती है जिस ज्ञानी के मन में
परम्परागत दुःखों की अनवरत शृंखला
वह साधक इस भवसागर में ऐसे रहता
जैसे जल के बीच कमल का पत्र निर्जला ।

मेरा मौन सकारण है

किससे वार्तालाप करूं मैं किससे बोलूं ?
रूप-देह, जो मुझे समक्ष दिखाई देता
वह जड़ होने से कुछ भी तो नहीं जानता ?
और आत्मा, जो शरीर के भीतर रहती,
यद्यपि वह ज्ञायक-चेतन है,
पर अदृश्य है ।
तब किससे मैं करूं वार्ता,
किससे बोलूं ?

दवग्गिणा जहा रण्णे,
डज्झमाणेसु जंतुसु ।
अण्णे सत्ता पमोयंति,
रागद्दोस वसं गया ॥१४-४२॥
एवमेव वयं मूढा,
कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाणं ण बुज्झामो,
रागद्दोसग्गिणा जगं ॥१४-४३॥

[उत्तरा०]

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव ! ॥१॥

[सामायिक पाठ]

जला जा रहा यह संसार

वन में लगी अग्नि में जलते जीव देख कर
राग-द्वेष-वश अन्य जीव होते प्रसन्न ज्यों,
उसी भांति से काम भोग में लिप्त हम सभी
नहीं समझते—
यह सारा संसार हम सहित जला जा रहा
राग द्वेष की अमित अग्नि में ।

देव, यह वर दो !

दुखी जीव के लिए दया हो,
सब जीवों से मित्र-भाव हो,
हो प्रमोद-भक्ति गुणिजन में ।
धर्म-विमुख विपरीत वृत्ति वाले जन में भी
मेरे मन का हो माध्यस्थ-भाव स्थापित ।
प्रेम और वात्सल्य-पूर्ण चारों भावों को
मेरी आत्मा धारण करे, देव यह वर दो ।

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ।।३९०।।
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ।।३९१।।
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ।।३९२।।
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ।।३९३।।
गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ।।३९४।।
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ।।३९५।।
फासो न हवइ णाणं जम्हा फासो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ।।३९६।।
कम्मं णाणं न हवइ जम्हा कम्मं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ।।३९७।।
धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ।।३९८।।
णाणमधम्मो न हवइ जम्हाधम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ।।३९९।।
कालो णाणं न हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ।।४००।।
जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ।।४०३।।
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ।।४०४।।

जो निज में कुछ नहीं जानता उसे नहीं कह सकते ज्ञान ।
शास्त्र अन्य है, ज्ञान अन्य है
शास्त्र नहीं है विज्ञ स्वयं में
नहीं जानता अपने में कुछ
अतः भिन्न है शास्त्र ज्ञान से ।

इसी भांति से शब्द, रूप
रस, गंध, स्पर्श भी
वर्ण, कर्म भी
विज्ञ नहीं अपने में कोई भी इनमें से
अतः भिन्न है ज्ञान सभी से

काल-द्रव्य, आकाश आदि भी
नहीं जानते हैं निज में कुछ
अतः नहीं हैं ये भी ज्ञान ।

ज्ञान नहीं धर्मास्तिकाय भी
नहीं उसे भी कोई भान
अध्यवसाय अचेतन-जड़ है
अतः नहीं है वह भी ज्ञान ।

केवल मात्र जीव ही सब कुछ जानता
अतः जीव ही ज्ञाता-ज्ञायक-ज्ञान है
भिन्न नहीं होता ज्ञायक से ज्ञान कभी
अतः ज्ञान ही संयम है, दीक्षा है, सम्यग्दृष्टि है
धर्म अधर्म है, अंगपूर्वगत सूत्र है
बुधजन ऐसा जानते, जिन यह सब कुछ जानते ।

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदनागुणंसद्दं ।

जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।।४९।।

[अष्टपाहुड़ ६४]

भावस्स णत्थि णासो

णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।।१५।।

[पंचास्तिकाय]

सव्वं चिय पइसमयं,

उप्पज्जइ नासए य निच्चं च ।।५४४।।

[विशेषावश्यक भाष्य गाथा]

नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते

वि पएसे,

जत्थं ण अयं जीवे न जाए वा,

न मए वा वि ।।१२।७।।

[भगवतीसूत्र]

दर्शन-अध्यात्म

रूप, गंध, रस-रहित है निराकार निःशब्द,
महिमाशाली जीव है चेतन-गुण से युक्त ।
ग्रहण नहीं कर पातीं इसको इन्द्रियां,
कोई चिह्न नहीं कर पाता है अभिव्यक्त ।

भाव का नाश नहीं होता,
असत् का कभी न होता जन्म ।

विश्व का हर तत्त्व प्रतिक्षण
जन्म लेता-नष्ट होता
नित्य भी रहता निरन्तर
शाश्वत है चिर सनातन ।

अणु-परमाणु बराबर भी इस निखिल विश्व में
देश-प्रदेश नहीं है कोई, ऐसी कोई नहीं धरा है–
जहां न जन्मा जीव,
जहां पर नहीं मरा है ।

जरामरण वेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरण मुत्तमं ।।२३।६८।।
सरीर माहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविग्रो ।
संसारो ग्रण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ।।२३।७३।।

[उत्तरा॰]

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य काल आयासं ।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणागुणपज्जएहिं संजुत्ता ।।६।।

[नियमसार]

णाइच्चो उएइ ण ग्रत्थमेति,
ण चन्दिमा ग्रड्ढति हायती वा ।।१।१२।७।।

[सूत्रकृतांग]

जरा-मरण के महावेग में डूब रहा सारा संसार,
धर्म दीप है, गति है, उत्तम शरण, प्रतिष्ठा का आधार,
यह शरीर नैया है, जिसका जीव-आत्मा खेवनहार,
ऋषि-गण देह-रूप नौका से करते हैं भव-सागर पार।

पुद्गलकाय, अधर्म, धर्म, जीव, काल, आकाश।
ये सारे तत्वार्थ हैं सृष्टि इन्हीं का पाश ॥

खगोल ज्ञान

उदय न होता सूर्य वस्तुतः
और न, होता अस्त।
घटता-बढ़ता नहीं चन्द्रमा
किन्तु हमारी दृष्टि इसी-
-भ्रम-पालन की अभ्यस्त।

बलं थामं च पेहाए,
सद्धामारुग्गमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय,
तहप्पाणं निजुंजए ।।८।३५।।

[दशवैकालिक]

जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ।।१४।२५।।
जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं,
जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि,
सो हु कंखे सुए सिया ।।१४।२७।।

[उत्तराध्ययन]

जहा अंतो तहा बाहिं,
जहा बाहिं तहा अंतो ।

[आचा. श्रु. १ अ. २, उ. ५]

ज सेयं तं समायरे ।

[दश. अ. ४ गा. ११]

जन शिक्षण

निज शरीर बल और स्वास्थ्य को,
अपनी श्रद्धा-क्षेत्र-काल को,
उचित ढंग से जांचो-परखो,
और नियोजित करो स्वयं का पूर्ण मनोबल
तब जुट जाओ शुभ कर्मों के सम्पादन में
निश्चय तुमको मिले सफलता,
मिले सफलता।

बीत गईं जितनी भी रातें
पुनः लौट कर कभी न आतीं,
पर जो करता धर्म आचरण
उसकी दिवस-निशा मुस्कातीं।
मित्र-भाव है नहीं मरण के साथ किसी का,
कोई इससे बच कर भाग नहीं सकता है,
कोई कह सकता है- होगा वह न कभी हत ?
अतः भरोसा करो न कल का रहो कर्म-रत।

जैसे बाहर, वैसे भीतर,
जैसे भीतर, वैसे बाहर।
अन्तरंग औ' बाह्य तुम्हारा
मन-विचार-उच्चार सभी हो सत्य उजागर
करो आचरण वही कि जो हो अति श्रेयस्कर।

सच्चं···लोगम्मि सारभूयं,
···गंभीरतरं महासमुद्दाओ ।
सच्चं···सोमतरं चंदमंडलाओ,
दित्ततरं सूरमंडलाओ ।
सच्चं च हियं च मियं च गाहणं च ।
सच्चं पि य संजमस्स उवरोहकारकं
किंचि वि न वत्तव्वं ।
अप्पणो थवणा, परेसु निंदा ।
कुद्धो···सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज ।
लुद्धो लोलो, भणेज्ज अलियं ।।२।२।।

[प्रश्न व्याकरण सूत्र]

कालेण कालं विहरेज्ज रट्ठे,
बलाबलं जाणिय अप्पणो य ।।२०।१४।।
सीहो व सद्देण न संतसेज्जा ।।२१।१४।।

[उत्तराध्ययन]

अप्पणो णामं एगे पत्तियं करेइ, णो परस्स ।
परस्स णामं एगे पत्तियं करेइ, णो अप्पणो ।
एगे अप्पणो पत्तियं करेइ, परस्सवि ।
एगे णो अप्पणो पत्तियं करेइ, णो परस्स ।।४।३।।

[स्थानांग]

सारभूत है सत्य जगत में, सागर से बढ़कर गंभीर,
चन्द्र-प्रभा से अधिक सौम्य है, सूर्याधिक तेजस्वी धीर।
जो हित-मित हो और ग्राह्य हो, ऐसा सत्य-वचन बोलो,
जो संयम का घातक हो तो, उस सच को मुख मत खोलो।
पर-निंदक औ' आत्म-प्रशंसक है असत्य की गांठ खोलता,
लोभ-ग्रस्त भी झूंठ बोलता, और मोह से सत्य तोलता।
सत्य-शील औ' विनय-भाव का
नाश किया करता क्रोधी जन।
[सद्गुण धारण करो सत्य के, बचो दुर्गुणों से मानव-मन!]

शक्ति को पहिचान अपनी, हे सबल जन!
हो उचित क्षण पर यथोचित आचरण
डर न केवल शब्द (गीदड़-भभकियों से)
घूम सारे राष्ट्र में कर मुक्त विचरण—
कर्म-पथ पर सिंह सा निर्भीक बन।

कुछ जन ऐसे- जो केवल निज हित-साधन में लीन
कुछ उदार-जन, अपने हित को छोड़
अन्य के मंगल में तल्लीन
अपने साथ-साथ औरों के हित में रत कुछ मनुज महान्
भला, न अपना हो, न अन्य का
इस चिन्ता में रहते कुछ दुर्जन शैतान।

जह नाम महुरसलिलं,
सायरसलिलं कमेण संपत्तं ।
पावेइ लोणभावं,
मेलणदोसाणुभावेण ।
एवं खु सीलवंतो,
असीलवंतेहिं मीलिओ संतो ।
हुंदि समुद्दमइगयं,
उदयं लवणत्तणमुवेइ ।। ११२७-२८ आव. नि.।।

[आचार्य भद्रबाहु]

ण मुयइ पयडिमभव्वो,
सुट्ठु वि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता,
ण पण्णया णिव्विसा हुंति ।।३१७।।

[समयसार]

मणो साहस्सिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्मसिक्खाइ कन्थगं ।।२३।५८।।

[उत्तराध्ययन]

सागर से मिलकर सरिता का
मीठा जल खारा हो जाता
उसी भाँति से दुर्जन का संसर्ग-
सदाचारी जन पाता-
तो उसका प्रत्येक आचरण
निश्चय ही दूषित हो जाता।

कितना ही गुड़-दूध पिये पर
सर्प न अपना विष तजता।
ऐसे ही अभव्य जीव भी
कितना ही शास्त्रों को पढ़ले-
अपनी प्रकृति नहीं छोड़ता।

मन बड़ा ही साहसिक है,
दुष्ट घोड़ा
दौड़ता रहता भयंकर वेग से।
धर्म-शिक्षा-रूप वल्गा से
इसे वश में करो।

तमे णामं एगे जोई
जोई णामं एगे तमे ॥४।३॥

[स्थानांग]

जहा पुण्णस्स कत्थई,
तहा तुच्छस्स कत्थई,
जहा तुच्छस्स कत्थई,
तहा पुण्णस्स कत्थई ।

[आचा. श्रु. १ अ. २ उ. ६]

तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि ।
तुमंसि नाम तं चेव परियावेयव्वं ति मन्नसि ।

[आचारांग १।५।५॥]

पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि ?
पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्भ,
एवं दुक्खा पमुच्चसि ॥१।३।३॥

[आचारांग]

अंधेरे के घेरे को तोड़
प्रकट होता है कभी प्रकाश,
कभा करते उजियारा कैद
मोह से ग्रस्त तिमिर के पाश।
[कभी ज्ञानी का अन्तर भी, दुराचारी हो जाता है।
और अज्ञानी के मन से, प्रकट होता जीवन का हास।]

धनिक और धनहीन सभी को
हितकर यह उपदेश।
राजा-रंक सभी पर लागू
यह अभिनव संदेश॥

जिसे तू चाहता है मारना मानव, स्वयं तू है,
जिसे परिताप देना चाहता, वह भी स्वयं तू है।
पराजित कर जिन्हें शासित बनाना चाहता अपना—
नज़र अद्वैत की डाले, तो देखेगा, स्वयं तू है।

तेरा मित्र स्वयं तेरे भीतर बैठा है,
खोज रहा तू बाहर किस सहयोगी को
मानव अपने निज का निग्रह करे अगर
दुख से मुक्ति मिले निश्चय दुख-भोगी को।

अणुन्नए नावणए महेसी,
न यावि पूयं, गरिहं च संजए ।।२१।२०।।
न सव्व सव्वत्थभिरोयएज्जा ।।२१।१५।।
पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा ।।२१।१५।।
नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य ।
खंतीए मुत्तीए य, वड्ढमाणो भवाहि य ।।२२।२६।।

[उत्तराध्ययन]

पुरिसम्मि दुव्विणीए,
विणयविहाणं न किंचि आइक्खे ।
न वि दिज्जति आभरणं,
पलियत्तियकण्ण-हत्थस्स ।।६२२१।।

[निशीथ भा०]

आमे घडे निहित्तं,
जहा जलं तं घडं विणासेति ।
इय सिद्धंतरहस्सं,
अप्पाहारं विणासेइ ।।६२४३।।

[नि० भा०]

नीति-वचन

गर्व मत कर सुन प्रशंसा के वचन
और निन्दा से न खुद को हीन कह।
मन लगा मत हर कहीं हर वस्तु में
प्रिय-अप्रिय सम-भाव से निर्लेप सह।
ज्ञान, दर्शन, तप, क्षमा, निर्लोभता–
–की दिशा में बढ़ सदा सुचरित्र रह।

कंकरण-कुण्डल आदि विभूषरण
उस जन को देना है निष्फल
जो कि हाथ औ' कर्णहीन है।
इसी भाँति से दुर्विनीत को
सदाचार की शिक्षा देना
निष्फल-वर्जित-अर्थहीन है।

कच्चे घट में जल भर दो तो
हो जाता है नष्ट घड़ा ही
उसी भाँति से मन्दबुद्धि को–
–दिया हुआ गम्भीर ज्ञान भी
उस अपात्र के घट में जाकर
कर देता है नाश उसी का।

कोहविजए णं खंति जणयई ।।२९।६७।।
माणविजए णं मद्दवं जणयई ।।६८।।
मायाविजए णं अज्जवं जणयई ।।६९।।
लोभविजए णं संतोसं जणयई ।।२९।७०।।

[उत्तरा०]

जह वा विसगंडूसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को ।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरेज्जा? ।।५२।।

[आ. भद्रबाहु.सूत्रकृतांग नि. गा.]

जोहंति पक्कं न उ पक्कलेणं,
गवेंति तं सूरहगस्स पासे ।
एक्कंमि खम्भम्मि न मत्तहत्थी,
बज्झंति वग्घा न य पंजरे दो ।।४४१०।।

[वृह० कल्प भा०]

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि,
भण्णमाणस्स सगणवासिस्स ।
कडुगं व ओसहं त,
महुरविवायं हवइ तस्स ।।३५७।।

[भगवती आराधना]

क्षमा-भाव जाग्रत हो, जीते क्रोध अगर
मिले नम्रता, यदि जीते अभिमान-दोष।
माया जीते, मिले सरलता
निर्लोभी पाता सन्तोष ।।

लुक-छिप कर विष पीले कोई
तो क्या उससे नहीं मरेगा ?
लुक-छिप कोई पाप करे तो
किस प्रकार निर्दोष रहेगा ?

एक खंभ से नहीं बाँधते
जैसे दो उन्मत्त गजों को
दो सिंहों को एक पींजरे में-
जैसे आवास न देते
उसी भाँति से, दो झगड़ालू-
व्यक्ति साथ-साथ रखना भी
निश्चय ही उपयुक्त नहीं है।

कटु औषधि का भी परिणाम
मधुर हितकारी होता जैसे,
उसी भाँति से हे मुनिजन ! तुम
जो समाज को हितकारी हों
ऐसे वचन उचारो, चाहे-
अप्रिय लगें वे जन के मन को।

सौवण्णियह्मिणियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।१४६।।

[समयसार]

खामेमि सव्व-जीवे
सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु
वेरं मज्झं न केण इ ।।

[प्रतिक्रमण सूत्र]

कोहं खमाइ माणं
मदवया अज्जोण मायं च
संतोसेण व लोहं
निज्जिण चतारि वि कसाए ।।१८१।।

[मरण समा०]

पूयादिसु णिरवेक्खो,
जिणसत्थं जो पढ़ेइ भत्तीए ।
कम्ममलसोहणट्ठं,
सुयलाहो सुहयरो तस्स ।।४६०।।

[कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा]

बेड़ी चाहे लोह की हो या चाहे स्वर्ण की,
पर दोनों ही बाँधतीं बन्धन में जन को।
इसी भाँति से कर्म भी शुभ हो या चाहे अशुभ
दोनों बाँधें जीव को, विरत रखो मन को ।।

मेरी सबके साथ मित्रता,
नहीं किसी से वैर-शत्रुता,
मैंने क्षमा किये सब प्राणी,
और मुझे भी क्षमा-दान दें,
जग के सारे जीवन धारी,
तो मैं उनका अति आभारी !

जीते क्रोध क्षमा से साधक
और मान को मार्दव से
माया को आर्जव से जीते
और लोभ सन्तोष से !

विविध

पूजा और प्रतिष्ठा की इच्छा तज कर
जो योगी बहुमान-भक्ति के भाव से
अथवा कर्म-दोष का शोधन करने के हित
पठन-मनन करता शास्त्रों का
उसको श्रुत या ज्ञान-लाभ
अत्यन्त सुलभ है !

सद्धं णगरं किच्चा,

तवसंवरमग्गलं ।

खन्ति णिउणपागारं,

तिगुत्तं दुप्पधंसयं ॥१२०॥

[उत्तराध्ययन सूत्र]

दंसणणाणे विणओ,

चरित तव ओपचारिओ विणवो ।

पंचविहो खलु विणओ,

पंचमगहणामगो भणिओ ॥३६४॥

[मूलाचार गाथा]

विणओ मोक्खद्दारं,

विणयादो संजमो तवो णाणं ।

विणएणाराहिज्जइ,

आयरिओ सव्वसंघो य ॥१२९॥

[भगवती आराधना]

श्रद्धा या सम्यक्त्व-रूप नगरी में साधक
क्षमा आदि दश धर्म-रूप का दुर्ग बना कर
तप-संयम की जड़े अर्गला
तीन-गुप्ति रूप शस्त्रों से
दुर्जन कर्म-शत्रु को जीते।

पांच प्रकार विनय के होते,
ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय,
तप, चारित्र, उपचार।
दर्शन आदि पारमार्थिक
गुण का करो विचार।
इनके प्रति बहुमान रहो
यह निश्चय-नय है।
गुरु-जन, गुणी जनों, वृद्धों को
सविनय दो सम्मान
यही व्यवहार-विनय है।
[जो निश्चय ही निश्चय-नय से पैदा होता।
निश्चय-नय के बिना नहीं व्यवहार विनय है।।]

[महिमा अपरम्पार है]
विनय मोक्ष का द्वार है।
सिद्ध हुआ करता संयम-
-तप, ज्ञान, विनय से !
और विनय के द्वारा ही सेवा संभव है-
-संघ और आचार्य की !

कोहादिसब्भावक्खय
पहुदिभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं,
णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥११४॥

[नियमसार]

न कामभोगा समयं उवेंति,
न यावि भोगा विगइं उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥३२।१०१॥

[उत्तरा०]

वित्तेण ताणं ण लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे,
नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥४-५॥

[उत्तरा०]

प्रायश्चित परम औषधि है ।
काया वचन और मन से जो
दोष नित्य लगते मानव को
उनके क्षय की रखो भावना
क्रोध आदि-रूप दोषों के
क्षय का सोचो, ज्ञानी ज्ञाता !
दर्शन-ज्ञान आदि सद्गुण का चिंतन करना
निश्चय प्रायश्चित्त कहाता ।

काम-भोग आदि अपने में
शक्ति नहीं रखते समता की—
या कि विषमता की, पर मानव
खुद उनके प्रति राग-द्वेष कर,
उनका स्वामी-भोगी बनकर
मोह विकार-ग्रस्त हो जाता ।

जिसके अभ्यंतर का दीपक नहीं जला है
वह प्रमत्त अति मोह-ग्रस्त जन
न्याय-मार्ग को लख कर भी
अनदेखा करता ।
धन-ऐश्वर्य आदि का उसको
संरक्षण भी
किसी लोक में नहीं मिलेगा ।
[धन-ऐश्वर्य नहीं कुछ तेरा
तू केवल संरक्षक भर]

अब्भंतरदोसेण ए,

बाहिरसोंधी वि होदि णियमेण ।

अब्भंतरदोसेण हु,

कुणदि णाणं बाहिरे दोसे ॥१६१६॥

[भगवती आराधना]

उवभोगमिंदियेहिं,

दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।

जं कुणदि सम्मदिट्ठी,

तं सव्वं णिज्जराणिमित्तं ॥१६३॥

[समयसार]

मरदु व जियदु व जीवो,

अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।

पयदस्स णत्थि बंधो,

हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२१७॥

[प्रव० सार]

अभ्यंतरःपरिणाम मलिन होने पर होता
देह-वचन में निःसंदेह दोष परिलक्षित !
यदि हो पावन-शुद्ध मनुज का अन्तरतम तो
उसके बाह्यंतर की शुद्धि नियम से निश्चित ।

महिमा अकथनीय है सम्यग्दृष्टि की !
जो भी चेतन या कि अचेतन
–द्रव्यों का उपभोग करे इन्द्रिय के द्वारा सम्यग्दृष्टा
वे सब उसके लिये न होंगी बंधनकारी
अपितु निर्जरा की निमित्त ही बन जायेंगी ।

जीव मरे या जिये, यह विषय
हिंसा से सम्बद्ध नहीं है !
यत्राचार-विहीन प्रमत्त-जन
[जो समाज को नहीं समर्पित]
हिंसक होते हैं निश्चय ही ।
पर इसके प्रतिकूल जगत् में
समिति-परायण, वे अप्रमत्त जन
[जिनका जीवन, जन-समाज को होता अर्पण]
उनको हिंसा-बंध नहीं–
–लगता है (अपने कर्म-धर्म से)
वे प्रयत्नवान जन, मन से
हिंसा-भाव नहीं करते हैं ।

आसवदारेहिं सया,
        हिंसाईएहिं कम्ममासवइ ।
जह नावाइ विणासो,
        छिद्दे हि जलं उयहिमज्झे ॥६१८॥

[मरणसमाजोग]

तधा रोसेण सयं,
        पुव्वमेव उज्झदि हु कलकतेणेव ।
अण्णस्स पुणो दुक्खं,
        करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्जा ॥१३६३॥

[भगवती आराधना]

गुणाणमासओ दव्वं,
        एक दव्वासिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु,
        उभओ अस्सिया भवे ॥२८।६॥

[उत्तराध्ययन सूत्र]

हिंसादिक आस्रव-द्वारों के मार्ग से
कर्मों का प्रवेश होता है जीव-चित्त में, इस प्रकार से
जैसे नौका में छिद्रों से जल भरता है।
ऐसी नाव नष्ट हो जाती !

तप्त लौह के पिंड सरीखा
होता है सन्तप्त स्वयं पहले क्रोधी जन
तदनन्तर वह अन्य किसी को
रुष्ट कर सकेगा या नहीं,
नहीं यह निश्चित।
क्योंकि किसी को नियमपूर्वक दुखी बनाना
नहीं मनुज के हाथ में।

द्रव्य, गुणों का आश्रय होता।
एक द्रव्य के आश्रित रहते हैं अनेक गुण
जैसे एक आम के फल में
रूप-रसादि विविध गुण रहते !
पृथक् द्रव्य से गुण न मिलेगा।
पर्यायों का लक्षण उभयाश्रित होता है।

वदणियमाणि धरंता,
सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जे,
णिव्वाणं ते ण विन्दन्ति ॥१५३॥

[आ० कुन्दकुन्द, समयसार]

जाणंतोऽवि य तरिउं,
काइयजोगं न जुंजइ नईए ।
सो वुज्झइ सोएणं,
एवं नाणी चरणहीणो ॥११५४॥

[आ. भद्रबाहु, आव. नि.]

पढमं नाणं तओ दया,
एवं चिट्ठइ सव्व-संजओ ।
अन्नाणी किं काही ?
किं वा नाही य सेय-पावगं ॥

[दश. अ. ४ गा. १०]

धारण करे नियम-व्रत सारे,
रखे शील का आचरण,
उदय न हो, परमार्थ-रूप यदि
आत्म-बोध की भावना–
तो भी वह निर्वाण न पाये
तप कितना भी करे श्रमण।

जो कि जनता है पानी में तैरना
वह भी भीषण जल-प्रवाह में कूदकर
करता नहीं प्रयास तैरने का अगर-
तो मर जाता है पानी में डूब कर !
इसी भाँति से जो कि जानता धर्म को
किन्तु न करता धर्माधारित आचरण
वह कैसे इस भवसागर से पार हो ?
वह कैसे कर सके मुक्ति का सहवरण ?

श्रेयस और अश्रेयस को
या पुण्य-पाप को
कैसे जान सके अज्ञानी ?
प्रथम ज्ञान है,
तत्पश्चात् दया, इस क्रम पर
अपनी संयम-यात्रा करता त्यागी प्राणी ! !

जो वि पगासो बहुसो,

गुणिओ पच्चक्खओ न उवलद्धो ।

जच्चंधस्स व चन्दो,

फुडो वि संतो तहा स खलु ॥१२२४॥

[बृह० भाष्य]

इमं च मे अत्थि इमं च णत्थि,

इमं च मे किच्चं इमं अकिच्चं ।

तं एवमेव लालप्पमाणं,

हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥१४-१५॥

[उत्तरा०]

सव्वे पाणा पियाउया

सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा ।

पियजीविणो जीविउ कामा,

सव्वेसिं जीवियं पियं ॥२-३-७॥

[आचारांग]

चाँद चमकता रहता लेकिन
देख नहीं पाता जन्मांध
उसी भांति से चाहे बार-बार पढ़ डालो-
—विविध शास्त्र को
किन्तु न हो अनुभूति अर्थ की यदि स्पष्ट तो
मिलता नहीं शास्त्र का ज्ञान !

अमुक वस्तु है पास हमारे,
अमुक नहीं है,
अमुक कार्य कर लिया
अमुक है शेष अभी तक,
इस प्रकार की चिन्ताओं में
व्याकुल प्राण, हरण कर लेता—
—दुर्जय काल, अचानक आकर,
इस यथार्थ से परिचित प्राणी
होते नहीं प्रमाद-प्रभावित ।

नहीं चाहता है कोई भी हत हो जाना,
हर प्राणी को प्रिय है जीवन ।
सभी चाहते जीवन में सुख
दुख कोई भी नहीं चाहता ।

अमिणं जगई पुठा जना,
कम्मेहिं लुप्पंति पारिणणो ।
सयमेव कडेहि नाहई,
नो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥१-२-१-४॥

[सूत्रकृतांग]

गुणेहि साहू अगुणेहि साहू,
गिण्हाहि साहू गुण मुंच साहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पए णं,
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥९-३-११॥

[दश वै०]

जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा,
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥२-१४॥

[दश वै० चूलिका]

कोई अन्य नहीं हैं सुख-दुख देने वाला।
इस धरती के सारे प्राणी
अपने ही कर्मों से पीड़ित।
कर्मों का फल भोगे बिना नहीं छुटकारा।

गुण-दुर्गुण से ही होते हैं साधु-असाधु
अतः गुणों को ग्रहण करो,
दुर्गुण को छोड़ो !
जो अपनी आत्मा को जाने
निज आत्मा के माध्यम से
राग-द्वेष से मुक्त वही जन
पूजनीय है जन-समाज में।

जातिवान् घोड़ा वल्गा का इंगित पाकर
जिस प्रकार चलने लगता है सही मार्ग पर
उसी भाँति से सम्यग्दृष्टि साधु कभी जब
असत्मार्ग के अभिमुख पाता है अपने को,
अपनी देह, वचन या मन को,
तुरत खींच कर उन्हें वहाँ से
आरोहित करता सत्पथ पर।

धम्मम्मि जो दढमई,

सो सूरो सत्तिओ य वीरो य ।

ण हु धम्मणिरुस्साहो,

पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि ॥६०॥

[सूत्र नि०, आ० भद्रबाहु]

अप्पाणं हवइ सम्मत्तं । २० (दर्शन पाहुड)

सोवाणं पढं मोक्खस्स । २१ (द० पा०)

णाणं णरस्स सारो । ३१ (द० पा०)

हेयाहेयं च तहा, जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥५॥

(सूत्र पाहुड)

वीरे णामं एगे णो वीरणमणे ।

वीरे णामं एगे णो वीरसंकप्पे ॥४-२॥

(स्थानांग)

जो अपने कर्तव्य-धर्म में निष्ठा रखता
सच पूछो तो शूरवीर-बलवान वही है।
सक्षम होकर भी जो अपने-
-कर्तव्यों से उदासीन है-
वह काहे का वीर-बली है ?
उसकी आत्मशक्ति क्षीण है।

सम्यक्त्व है आत्मा
और मोक्ष की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन।
ज्ञान, सार मानव-जीवन का।
सम्यग्दृष्टा वही कि जो
जानता हेय और उपादेय को।

कुछ जन वे जो देह और धन से होते लाचार,
पर उनका संकल्प और मन होता बड़ा उदार।

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं, कसायथोवं च ।
ण हु भे वीससियव्वं, थोवं पि हु ते बहुं होइ ॥१२०॥

[आ० भद्रबाहु, आ० नि०]

जागरिया धम्मीणं,
आहम्मीणं च सुत्तया सेया ॥५३०६॥

[नि० भा०]

जो उत्तमेहिं पहओ,
मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ॥२४९॥

[बृहत्कल्प भाष्य]

थोड़ा सा भी अंश हो, ऋण-व्रण-अग्नि-कषाय।
करो उपेक्षा तो यही अति विस्तृत हो जाय।

धर्म-प्राण जन रहें जागते तो हितकर
और अधर्मी जन का सोना श्रेयस्कर।

महापुरुष जिस पथ पर चल कर
बना गये हैं जिसे सरल
वह पथ दुर्गम नहीं, चलें—
जन-साधारण उस पर अविरल।

असुहो मोह-पदोसो,
सुहो व असुहो हवदि रागो ।

[प्रवचन० २।८८]

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥१३७॥

[पंचास्तिकाय]

मोह और अज्ञान अशुभ ही होते हैं
किन्तु राग, शुभ और अशुभ दोनों होता है।

भूखे-प्यासे दुखी जनों को देख स्वयं जो पाता क्लेश
हरता उनके कष्ट उसी को अनुकम्पा का मिले प्रवेश।
[आत्मा लोक प्रकाशित उसका, धर्म प्राण वह, संत पुरुष]
दीन-हीन जन को अपना कर देता उन्हें अभय—परिवेश।